लेखक की अन्य रचनाएं

लोकगीत

गिद्धा (१९३६) : पंजाबी

दीवा बले सारी रात (१९४१) : पंजाबी

मैं हूँ ख़ानाबदोश (१९४१) : उर्दू

गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६) : उर्दू

Meet My People (१९४६)

धरती गाती है (१९४८)

धीरे बहो गंगा (१९४८)

बेला फूले आधी रात (१९४८)

कविता

धरती दीयां वाजां (१९४१) : पंजाबी

कहानियां

कुंग पोश (१९४१) : पंजाबी

नये देवता (१९४३) : उर्दू

और बाँसुरी बजती रही (१९४६) : उर्दू

चट्टान से पूछ लो (१९४८)

चाय का रंग (१९४९)

निबन्ध

एक युग : एक प्रतीक (१९४८)

रेखाएं बोल उठीं (१९४९)

दे वे न्द्र स त्या र्थी

वन्दनवार

प्र ग ति प्र का श न
न ई दि ल्ली

श्री बलवन्त भट्ट को

सूची

दृष्टिकोण

मैं यह बात तो सोच ही नहीं सकता कि जिस देश में मेरा जन्म हुआ और जिसकी संस्कृति ने लोरी के स्वरों में अपनी वाणी झंकृत की, उसका अतीत मेरी कल्पनामें रचा हुआ न हो। यही नहीं, बल्कि उसकी समूची पृष्ठभूमि मेरी रचनात्मक भावनाओं के लिये सुलभ-प्राप्य वस्तु बन जानी चाहिये, जैसे आज के चित्र-शिल्पी के लिये यह आवश्यक है कि वह पूर्ववर्ती चित्रकला की समूची परम्परा से परिचित हो।

वैदिक ऋचाएं मुझे बचपन में ही सुनने को मिलीं। कुछ तो मुझे कंठस्थ भी करा दी गईं। उनकी भाषा से मैं एकदम अपरिचित था, फिर भी उनके शब्द-संगीत का मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। अनुवाद-द्वारा ही सही, संस्कृत-साहित्य के साथ भी मैंने थोड़ा-बहुत सम्पर्क बनाये रखा। लोक-गीत-यात्रा के लम्बे वर्षों में जहां एक ओर मुझे विभिन्न भाषाओं की लोक कविता का परिचय मिला वहां दूसरी ओर अनेक साहित्यकारों से भी मेरा साक्षात्कार हुआ।

कविता और कहानी की ओर मैं एक साथ आकृष्ट हुआ, वह भी सन् १९४० में। आरम्भ कविता से ही हुआ और वह भी पंजाबी में। बस यों ही गुनगुना कर कुछ लिख डाला था। वह स्वयं मेरे लिये भी कुछ आश्चर्य का विषय नहीं था ; पर मन पर जैसे एक नशा-सा छा गया। जब यह कविता एक प्रसिद्ध पंजाबी मासिक में प्रकाशित हुई तो एक आलोचक ने तो यहां तक कहा कि इसमें ध्वनि-संगीत का अछूता प्रयोग किया गया है। पर मैं

स्वयं इससे सन्तुष्ट नहीं था। मैं तो एकदम पागल-सा हो उठा था, यों ही कुछ-न-कुछ गुनगुनाने लगता, फिर सोचता—क्या गुनगुनाना ही कविता के लिये पर्याप्त है? मैं जैसे पंजाबी के शब्दों को खिलौनों की तरह सजा कर रखता। कुछ कविताएं ताश के घर के समान खुद ही गिर जातीं, कुछ को मैं स्वयं गिरा देता। मन स्वयं अपना आलोचक बन बैठा था, और मैं सोचता कि अब जब यह खेल शुरू किया है तो महाकवि नहीं तो कवि तो मुझे अवश्य ही बन जाना चाहिये।

सन् १६४१ में मेरी पंजाबी कविताओं का प्रथम संग्रह प्रकाशित हुआ—'धरती दीयां वाजां' (धरती की आवाजें)। प्रस्तावना में मैंने लिखा था—"मेरी कविताओं ने बड़े वेग से जन्म लिया है। इनकी धमनियों में मेरा अपना रक्त बह रहा है। भविष्य इनके सम्बन्ध में अपना निर्णय स्वयं कर लेगा। विश्व सदा से परिवर्तनशील रहा है। पर धरती का रूप नहीं बदलता। धरती माता की आवाजें जनता चिरकाल से सुनती आई है।"

उन्हीं दिनों एक मित्र ने व्यंग्य से कहा—"तुम्हें धरती-रोग हो गया है, इससे बचो। कवि का मन किसी एक शब्द पर आकर अटक जाय, तो समझो कि उसकी प्रतिभा का दिवाला पिट गया।" मैंने इस परामर्श की ओर जरा भी ध्यान न दिया, क्योंकि धरती मेरे लिये केवल एक शब्दमात्र न थी। यह तो मेरे लिये जीवन और संस्कृति की प्रतीक रही है।

पंजाबी-माध्यम मुझे आज भी प्रिय है। पर हिन्दी-माध्यम को अपनाने का मोह भी मैं संवरण न कर सका। क्योंकि अनेक अवसरों पर, जब भी मुझे पंजाबी न समझनेवाले मित्रों के सम्मुख कोई कविता सुनानी पड़ी और साथ ही उनकी जानकारी के लिये इसका भावार्थ हिन्दी में समझाना पड़ा, मेरी यह धारणा पक्की होती गई कि कविता अनुवाद में अपना बहुत-कुछ खो देती है। अतः मैंने सोचा क्यों न कभी-कभी हिन्दी-माध्यम में भी लेखनी आज़माई जाय। 'वन्दनवार', 'नर्तकी'-शीर्षक कविता इस प्रयास का सर्व-प्रथम परिणाम है। हरिद्वार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर मैंने इसे कवि-सम्मेलन में पढ़ने का दुस्साहस भी कर डाला था। फिर भी मैं इसे किसी हिन्दी पत्रिका में प्रकाशन के लिये भेजने का साहस न कर सका। सौभाग्यवश कुछ दिन बाद दिल्ली में श्री सुमित्रानन्दन पन्त से भेंट हुई। स्व० डा० नीलाम्बर जोशी के हस्पताल में उनकी आंखों की चिकित्सा होने जा रही

थी। उनके सम्मुख भी बड़ी सरलता से मैंने यह कविता सुना डाली तो उनके मुख से अनायास ही ये शब्द निकल पड़े,—नर्तकी कविता नहीं एक मूर्ति है, एक पूरी चट्टान को काट कर बनाई गई मूर्ति, कहीं कोई जोड़ तो है ही नहीं......फिर भी यह कविता मेरे पास अप्रकाशित ही पड़ी रही। दिल्ली में एक कवि महोदय ने तो अपनी एक कविता में इसकी कुछ पंक्तियों की छाया प्रस्तुत करने का दुस्साहस तक कर डाला। अब मैंने यही उपयुक्त समझा कि इस कवि पर दोषारोपण करने की बजाय 'नर्तकी' को किसी स्टैंडर्ड पत्रिका में प्रकाशित करा दिया जाय। अतः 'नर्तकी' 'हंस' में प्रकाशित हुई।

मैं अपनी कुछ कविताएं शुरू-शुरू में पंजाबी से हिन्दी में हू-ब-हू परिणत करने में भी सफल हुआ। 'रेशम के कीड़े' और 'मिश्र देश' ऐसी ही कविताएं हैं। ये भी 'हंस' में प्रकाशित हुई थीं। इन्हें हिन्दी में परिणत करने का कार्य हँसी-हँसी में सम्पन्न हो गया था। इसका एक कारण यह भी था कि इनके मूल रूप पंजाबी कविता की रूढ़िवादी और परम्परागत शैली के स्थान पर स्वतन्त्र नूतन शैली में प्रस्तुत किये गये थे। पुरानी पंजाबी कविता के अनुयायी इस शैली को रबड़-छन्द कह कर इसकी हँसी उड़ाते थे। रबड़-छन्द का नाम देकर पुराने मत के कवि यह कहने का यत्न करते थे कि वस्तुतः यह कविता इतनी बेतुकी है कि किसी भी छन्द का अनुशासन स्वीकार नहीं करती। इसके विपरीत इस नूतन शैली के अनुयायियों का यह मत था कि इस शैली में लिखने के लिये भी बड़ा संयम चाहिये और यह वस्तुतः कोई हास्यास्पद वस्तु नहीं। जब मैंने देखा कि इसी शैली के मिलते-जुलते प्रयोग हिन्दी और अनेक प्रान्तीय भाषाओं में भी किये जा रहे हैं तो मुझे बड़ा हर्ष हुआ। यों लगा कि मैं किसी एक प्रान्त के छोटे-से कबीले का सदस्य न होकर आधुनिक कवियों के विशाल कबीले का सदस्य हूँ जो न केवल भारत के अनेक प्रान्तों में फैला हुआ है, बल्कि विश्व के प्रत्येक देश में आज उसके प्रयत्न दृष्टिगोचर होते हैं। यहां मैं यह कह देना उचित समझता हूँ कि शुरू-शुरू में मुझे पुरानी शैली की कविता ही पसन्द थी जो किसी-न-किसी नपे-तुले छन्द पर आश्रित रहती थी। विशेष रूप से पंजाबी में, जहां नई शैली का एकदम अभाव था, यह स्वाभाविक ही था कि पुरानी शैली की कविता में से ही अपनी पसन्द की वस्तु चुनता। यहां फिर यह कह दूं कि पुरानी शैली की पंजाबी कविता में जो कविता मुझे उन दिनों पसन्द थी, वह आज भी

एकदम नापसन्द नहीं। पर मेरे कहने का भाव तो बस इतना ही है कि जब मुझे कविता की प्रेरणा प्राप्त हुई कुछ कवि अपने लिये पुरानी पगडंडियों को छोड़ कर नई पगडंडियां बना रहे थे। अतः मैंने भी नई पगडंडी को अपनाना ही उचित समझा। या यह कहिए कि मैं इतना सौभाग्यशाली रहा कि आरम्भ से ही मुझे एकदम नई शैली के प्रयोग करने के अवसर प्राप्त हो गये, यह नहीं कि कुछ देर इधर-उधर भटक कर इधर आने का ध्यान आया।

स्पष्ट है कि जहाँ तक नई शैली का सम्बन्ध है, इसमें भी कुछ कम परिश्रम नहीं करना पड़ा। कदाचित् पुराने मत के लोग, जिनका अभी तक नई शैली की कविता में विश्वास नहीं जमा, 'परिश्रम' शब्द के प्रयोग पर नाक-भौं चढ़ा कर कहें—"यही तो हम भी कहते हैं कि तथाकथित नई शैली की कविता में काट-छांट और जोड़-तोड़ का परिश्रम अधिक है, अनुभूति और प्रेरणा का यहां एकदम अभाव है।"

मैं यह कहने की धृष्टता तो नहीं कर सकता कि पुरानी छन्दोबद्ध शैली में आधुनिक युग के अनुरूप अच्छी कविता का सृजन असम्भव है। हाँ, यह अवश्य कहूंगा कि जिस प्रकार पुरानी कविता में भी निरन्तर विकास हुआ है और प्रत्येक कवि की प्रत्येक कविता काव्य की कसौटी पर एक समान बहुमूल्य सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार हो सकता है कि नई शैली की भी अनेक कविताओं का साहित्यिक मूल्य बहुत अधिक न हो, पर किसी को आज यह कहने का दुस्साहस तो हर्गिज नहीं करना चाहिए कि नई शैली की कविता एकदम मिथ्या प्रलाप है—एकदम मस्तिष्क का षड्यन्त्र, जिसमें हृदय की जरा भी परवाह नहीं की जाती।

नई शैली की कविता आज विश्व की प्रायः प्रत्येक उन्नत भाषा में दृष्टिगोचर होती है। स्पष्ट है कि प्रत्येक कवि का अनुभव एक-जैसा नहीं हो सकता, और यह आवश्यक भी नहीं कि विभिन्न कवियों की कविता एक-दूसरे की कारबन-प्रतिलिपि प्रतीत हो, और यह भी स्पष्ट है कि विभिन्न कवियों की कविताओं का साहित्यिक स्तर एक दूसरे से भिन्न होगा, क्योंकि यह तो असम्भव है कि सभी कवि अनुभव और अभिव्यक्ति के संतुलन में सदैव कला के उच्च स्तर को प्रस्तुत कर सकें। पर क्या यह कुछ कम महत्त्वपूर्ण बात है कि आज सभी उन्नत भाषाओं के कवि पुरानी पगडंडियों को छोड़ कर नई पगडंडियाँ अपना रहे हैं जिनके द्वारा आधुनिक युग को वास्तविक अभि-

व्यक्त हो सके। जिस प्रकार कहानी और उपन्यास की कला में आधुनिक मानव ने उन्नति की है और किसी भी देश में आज का उन्नत कहानी-लेखक और उपन्यासकार यह नहीं सोचता कि उसे अपने देश की पुरातन लोक-कथाओं और गाथाओं की शैली को ही अपनाना चाहिए, बल्कि वह तो यही सोचता है कि कहानी और उपन्यास की कला समूची मानवता की थाती है, और उन्नति होते-होते कहानी और उपन्यास की कला जहां तक आ पहुंची है अब उसे उससे आगे जाना चाहिए, उसी प्रकार कविता के क्षेत्र में भी आज इसी धारणा को अपनाने की आवश्यकता है। वैसे तो एक प्रकार से यह धारणा कविता के क्षेत्र में भी अपनाई जा रही है, पर यह बात विशेष रूप से उन कवियों और आलोचकों के लिये लिखी जा रही है जो नई कविता की शैली में अभी तक विश्वास प्रकट करते हिचकिचाते हैं।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी कविता में नये स्वर छेड़ते हुए टी० एस० इलियट ने 'दि लवसौंग आफ अलफ्रैड प्रुफ्रोक' में कहा था—

> Let me go then, you and I,
> When the evening is spread out against the sky,
> Like a patient etherised upon a table,
> Let us go through certain half-deserted streets,
> —'तो चलो हम चलें
> जब सन्ध्या आकाश के आंचल में फैली हुई है
> जैसे मेज पर बेहोश किया हुआ मरीज,
> चलो हम कुछ उजड़ी गलियों से गुजरें।'

स्पष्ट है कि कवि के मन में अभी तक युद्धकालीन वातावरण की प्रतिक्रिया चल रही थी। इससे बड़ी व्यंगोक्ति क्या होगी कि जब अंग्रेजी कविता इस स्तर पर पहुंच चुकी थी हिन्दी में अभी खड़ी बोली की कविता में छायावाद और रहस्यवाद की दागबेल डाली जा रही थी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जब इंगलैंड में रोमांटिक कविता का स्थान घोर यथार्थवादी कविता ले रही थी हमारे यहां एक प्रकार से यही रोमांटिक कविता छाया-वादी एवं रहस्यवादी घूंघट काढ़ कर अग्रसर हो रही थी। इसका बड़ा कारण तो यही था कि समय की दौड़ में हम पीछे रह गये थे। इतना

गनीमत हुआ कि हिन्दी-कविता के गगन पर छायावाद और रहस्यवाद के बादल चिर-काल तक नहीं टिके रह सके। यहां भी यथार्थवादी कविता का प्रचलन होने लगा, जिस पर विज्ञान की पुट उसी प्रकार दृष्टिगोचर होने लगी जैसे यह यूरोप की कविता पर अपना प्रभाव डाल चुकी थी।

कदाचित् कुछ लोग यह आपत्ति करें कि यह तो गोलमोल-सी बात हो गई। यथार्थवादी कविता और नई शैली की कविता, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, क्या यह सब एक ही वस्तु हैं? यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि युग की आवश्यकताओं के अनुरूप हमारे कवि भी यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाने लग गये, यद्यपि कुछ कवि अभी तक पिछली दलदल में ही फंसे हुए हैं।

बँगला कविता में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वयं जिस शैली की कविता की जय-पताका फहराई थी, अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में उससे भिन्न प्रकार की कविता प्रस्तुत की जिस पर गहरा यथार्थवादी प्रभाव नजर आता है। 'जन्मदिन' (१९४०) शीर्षक कविता की आरम्भिक और अन्तिम पंक्तियों में कवि कहता है—

दामामा ओई बाजे
पिन वदलेर पाला एल
झोड़ो युगेर माझे।
शुरू होबे निर्मम एक नूतन अध्याय
नहले केन एल अपव्यय
अन्यायेरे टेने आते अन्यायेरि भूत
भविष्येर दूत
× × ×
शेव परीक्षा घटाबे दुर्दैवे
जीर्ण युगेर कंचयेते कि जाबे कि रइबे।
पालिश करा जीर्णता के चिनते हबे आजि
दामामा ताई ओई उठे छे बाजि।

—'वह दमामा बज रहा है
दिन बदलने का अवसर आया

झड़ के युग में ।
एक निर्मम नूतन अध्याय शुरू हो रहा है ?

× × ×

शेष परीक्षा दुर्दैव निर्णय करेगा
कि जीर्ण-युग के संचय में क्या जायगा कहाँ रहेगा
आज पालिश की हुई जीर्णता को पहचानना होगा
दमामा इसीलिए बज उठा है ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस कविता के पीछे एक विशेष दृष्टिकोण नज़र
ाता है; जो उनकी इससे पहले की रचनाओं में नहीं उभर पाया था । इसे
ख़ते हुए झट यह कहने को मन होता है कि साहित्यिक शैली अथवा ढांचे
कहीं अधिक कवि का दृष्टिकोण ही मुख्य वस्तु है । 'वाक्य रसात्मकं
ाव्यम्' की कसौटी आधुनिक कविता का वास्तविक मूल्यांकन नहीं कर
कती, क्योंकि आधुनिक कविता में रस का स्थान दृष्टिकोण ने ले
त्या है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में यह परिवर्तन आकस्मिक
हीं था ।

जैसा कि श्री गोपाल हालदार ने समसामयिक बँगला कविता की चर्चा
रते हुए लिखा है, कुछ दिनों से हमारे जीवन में जो जिज्ञासा उत्पन्न हो
ही थी, उसी को आकस्मिक और उग्र अभिव्यक्ति अब हम देख रहे हैं, यह
ूलना नहीं चाहिए । सम्भवतः यह उन्मादना सामयिक है, परन्तु यह जिज्ञासा
ामयिक नहीं है । यह बात हम सभी जानते हैं कि इस युग में एक जीवन-
जज्ञासा हम सबके लिए दुर्निवार हो उठी है । इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक
ुग में मनुष्य-जीवन जिज्ञासा से चंचल होता है । असल में उसकी चिन्ता-
ावना में, कथा-कल्पना में, सृष्टि-साधना में, उसकी कला-दृष्टि में, साहित्य-
ंगीत में, उसके शहर के ऊपर, उसके समाज के ऊपर, उसके आईन-कानून
ं, उसके विद्रोह-विरोध में उसी जीवन-जिज्ञासा का ही स्वाक्षर रहता है ।
ोकिन फिर खास-खास युग में यह जीवन सत्य उग्र और असहनीय हो कर
ामने खड़ा होता है, उस समय उसका सामना करते हुए मनुष्य चौंक उठता
ै, दोनों आंखें बन्द हो जाती हैं, उस विराट् और भयंकर मूर्ति के सामने
ुख पीला पड़ जाता है । हमारे जमाने में सभी देशों में जीवन इस मृत्यु के

वेश में आ खड़ा हुआ है। हमारे देश में भी उसका वह रूप कुछ दिनों से दिखाई दे रहा था। रवीन्द्रनाथ भी अपने अन्तिम दिनों में इस ओर तीव्र रूप से सचेत हो रहे थे। उनके अन्तिम दिनों में उनकी ध्यान-धारणा में, वाणी में और वाणी-रूप में एक सुस्पष्ट परिवर्तन दिखाई दिया था, सभ्यता के संकट ने केवल उन्हें हिलाया ही नहीं, उनकी सृष्टि में वह रूप ग्रहण करने लगा। उन्होंने समझा कि कालान्तर हो रहा है। उनकी जिज्ञासा तीक्ष्ण हो उठी। नये सुर में, नई बातों में उनकी अभिव्यक्ति होने लगी।

जब कवि का दृष्टिकोण बदलता है तो वस्तुतः उसे परीक्षा-युग से गुजरते हुए नया रास्ता ढूँढ़ना पड़ता है, क्योंकि जब जीवन-सत्य ही रूपान्तरित हो जाय तो न पुरानी भाषा काम दे सकती है, न पुरानी रीति ही कविता की प्रतिभा को अग्रसर करती है। बँगला-साहित्य के विकास में, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने स्वीकार किया था, सबसे अधिक प्रेरणा यूरोप से प्राप्त हुई थी। गोपाल हालदार के मतानुसार रवीन्द्र-काव्यधारा की विवेचना करते हुए हम कवि को तीन युगों से लांघते हुए देखते हैं। निस्सन्देह हमें यहां एक महान् प्रतिभा के महाप्रयाण का दर्शन होता है। एक युग वह है जिससे कवि 'मानसी' से स्वदेशी युग को पार कर 'गीतांजलि', 'गीतिमाल्य' 'राजा' और 'डाकघर' के युग को अतिक्रम कर हमें 'बलाका' के द्वार तक पहुंचा देता है जिसमें महायुद्ध के मन्थन-काल से प्रभावित कवि का युद्धान्तवर्ती युग था। क्योंकि गोपाल हालदार के शब्दों में रवीन्द्रनाथ-काव्य की ओर से भी देखा जाय तो उसमें भी पर्व से पर्वान्तर है, 'मुक्तधारा', 'रक्त करवी' के साथ 'शेषेर कविता', 'महुआ', 'पूरबी' का योग और पार्थक्य दोनों हैं। किन्तु यह दूसरा युग शेष होने लगा 'पुनश्च' और 'परिशेष' में। फिर तीसरा युग आता है जिसमें कवि देखता है कि युगान्तर नहीं कालान्तर हो रहा है। यह वस्तुतः एक नवीन सत्य का युग है जब कवि ने जीवन को विशालतर परि-प्रेक्षण(पर्सपेक्टिव) में देखा। यह दूसरे महायुद्ध के प्रारम्भ और परमार्थ का समय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायुद्धों के बीच की बँगला कविता में रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा नूतन स्पर्द्धा, नूतन शक्ति और नूतन सृष्टि का आविर्भाव हुआ

रवीन्द्रनाथ की कविता के अन्तिम युग में हमें कुछ अति आधुनिक कवियों के दर्शन होते हैं जो यह मत रखते थे कि न केवल प्रत्येक युग में युग की

कुछ-न-कुछ अपनी विशेषता है। गोपाल हालदार के मतानुसार इन कवियों की कविता में "कुछ शब्द बहुत ज्यादा व्यंजनापूर्ण (Suggestive) हो उठे हैं। इसीलिए अनेक व्यक्तिगत अथवा विदेशीय शब्दों के इंगित ने भी कविता में स्थान कर लिया है। टूटी-फूटी बातों की तरह मन की टूटी-फूटी स्मृति अथवा विस्मृति को प्रकट करने की चेष्टा उनमें सुस्पष्ट है। इसके अलावा बँगला कविता कभी तो एकदम गद्य की तरह छन्दों के बन्धन से मुक्त है और कभी बिल्कुल सुरप्रधान संगीतधर्मी है। अर्थात् बँगला कविता में इस प्रयोग-युग के उत्तीर्ण कवियों की सबसे बड़ी देन टेकनीक में है। और इस टेकनीक की परीक्षा में इलियट-पाउन्ड और उनके बाद के युग के यूरोपीय काव्य में से बहुत-सी शिक्षाएं और इंगित बटोरे गये हैं। भाषा और भाव को लेकर यह टेकनीक-सम्बन्धी प्रयोग बहुधा केवल कौशल में परिणत हो सकता है। तब वह रचना-कौशल की आत्यन्तिक परिष्कृति की ऐसी सनक (craft-fetishism) के समान हो जाता है, जिसमें कवि भाव-पक्ष की चिन्ता करना ही छोड़ देता है। सृष्टि में टेकनीक का मात्राधिक्य एक बुरा लक्षण भी हो सकता है। शिल्पोत्पादन के क्षेत्र में टेकनीक्रेसी और मैंनेजीरियल रिवल्युशन (tichnocracy and managerial revolutions) उसी के प्रमाण-स्वरूप है। इलियट ने भी अनेकांश में उसी रास्ते से काव्य-सिद्धि का मार्गानुसन्धान किया है।"[1]

बँगला साम्प्रतिकों की परीक्षा द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर आरम्भ हुई थी। वस्तुतः इसी समय देश-देश में इस शैली के कवियों के सम्मुख परीक्षा-युग का आविर्भाव हो गया था। यह महायुद्ध अपने साथ सचमुच एक भाव-संकट भी लेता आया, क्योंकि इस महायुद्ध का रूप प्रथम महायुद्ध से एकदम भिन्न था। २२ जून १९४१ को द्वितीय महायुद्ध का रूपान्तर हुआ तो देश-देश के अनेक कवि इस भाव-संकट से मुक्त होकर नूतन काव्यसृष्टि में प्रवृत्त हुए। भारत में ९ अगस्त १९४२ विशेष रूप से एक नई ही प्रेरणा लेकर आया। जब महात्मा गाँधी के पथ-प्रदर्शन में कांग्रेस ने 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकृत करते हुए भारत को अंग्रेजी साम्राज्य की गुलामी से मुक्त करने का निश्चय किया। बँगला साम्प्रतिकों में कुछ कवि ऐसे भी थे जिनका

---

१ वही, पृष्ठ ६८९

भाव-संकट न २२ जून १६४१ को दूर हुआ, न ६ अगस्त १६४२ को। जहां तक द्वितीय महायुद्ध का सम्बन्ध हैं, यदि किसी भी भारतीय भाषा के कवियों को थोड़ा-बहुत समीप से इसकी एक झलक देखने का अवसर मिला तो वे बँगला कवि ही थे। अवश्य ही इन कवियों में से किसी-किसी ने यह अनुभव किया कि कविता की साधना कला की अभिव्यंजना-शैली की साधना मात्र नहीं है। अतः हम देखते हैं कि यदि इनमें से कोई जागरूक कवि परी-कहानी के ताने-बाने से काम लेते हुए कविता में नवीन जीवन-सत्य को स्थापित कर रहा है तो किसी की कविता में सीधे जन-संघर्ष से प्रेरणा मिल रही है। आज का जागरूक बँगला कवि यह समझने लगा है कि कविता की मौलिक समस्या तो दृष्टिकोण है; अभिव्यंजना शैली नहीं। वह खूब समझता है कि टेकनीक के अधीन होना घातक होगा। वह यह भी समझने लगा है कि कविता में रूप और भाव अविच्छिन्न वस्तुएं हैं। नाना द्वन्द्वों में घिरा हुआ बंगला कवि आगे बढ़ रहा है। वह जटिलताओं और नाना सत्यों के द्वन्द्वों से घबराता नहीं। वह अपना दायित्व समझता है... द्वन्द्वों को समन्वित करना और आगे बढ़ते चले जाना। यह और बात है कि कुछ कवि ऐसे भी हैं जो आज भी द्वन्द्वों के समन्वय की बात भूल कर, बल्कि अपने पाठकों तक को तिलांजलि दे कर एक प्रकार की एकांतिकता के साधक बने हुए हैं... उन की कविता में टेकनीक के जाल में सत्य को फांसने की हास्यास्पद प्रतिक्रिया रहती है। पर ऐसे कवियों के बीच से वे कवि उभरते नज़र आते हैं जो निरर्थक प्रयोगवाद की दलदल में नहीं गिरते, जिन्हें बस अपनी बात कहने की उत्सुकता है, वह भी ऐसी भाषा में जो एकमात्र कवि की भाषा न होकर समूचे समाज की भाषा है, जिस पर कवि की छाप तो है ही, पर जो कवि के कुण्ठित अहं की प्रतीक न होकर स्वच्छन्द मानवता की आवाज को प्रस्तुत करती है, जिसकी धमनियों में नया रक्त बहता है, जिसका अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है।

हिन्दी कविता की बात छोड़ कर बँगला कविता की बात विस्तार से कहने का एक ही कारण है कि हिन्दी की छायावादी और रहस्यवादी कविता की मूल-प्रेरणा रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता से प्राप्त हुई थी। रवीन्द्रनाथ के पश्चात् जो समस्या बँगला कवियों के सम्मुख उपस्थित हुई, वही हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं के कवियों के सम्मुख भी उपस्थित हुई। इस

समस्या को हर कहीं प्रायः समान रूप में समझाने के यत्न किये गये। हिन्दी कवियों में किस प्रकार पन्त ने अपनी लेखनी-द्वारा 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' प्रस्तुत की, यहां भी नूतन काव्य-आन्दोलन की छाप देखी जा सकती है। निराला ने अपनी अनेक रचनाओं में नूतन अभिव्यंजना-शैली में नूतन जनोपयोगी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया। निराला कहीं भी डगमगाता नहीं। उसका पथ उसके सम्मुख स्पष्ट है। पर कुछ आलोचकों के मतानुसार 'स्वर्णधूलि' 'स्वर्णकिरण' में पन्त आगे बढ़ने की बजाय पीछे को मुड़ गये हैं। इसी प्रकार 'इत्यलम्' के कवि की चर्चा करते हुए प्रकाशचन्द्र गुप्त ने लिखा है—"अभिजात वर्ग की कला की अन्तिम परिणति दुर्बोधता में होती है। पश्चिम में इसके उदाहरण जैम्स जॉयस, इलियट और ऐजरा पाउन्ड हैं। इसी दुर्बोधता की ओर हिन्दी के आत्मवादी लेखक भी जा रहे हैं। उनकी शृंगार की चरम सीमा दुर्बोधता है, क्योंकि वे जनता को घृणा और उपेक्षा से देखते हैं। उनकी कला का ध्येय विचारों का आदान-प्रदान न होकर आत्माभिव्यक्ति है। वे यायावर हैं। उनकी रचनाओं के नाम 'इत्यलम्' और 'मिट्टी की ईहा' होते हैं, जिन्हें समझने के लिए आपको कोष साथ बांध कर चलना चाहिये—इसी कला का उद्‌घाटन 'प्रतीकवाद' और 'प्रयोगवाद' के रूप में एक लम्बे अरसे से हिन्दी में हो रहा है। 'अज्ञेय' इस विचारधारा के बिन्दु हैं। इस केन्द्र के इर्द-गिर्द समय-समय पर अनेक नये कवि और कलाकार खिंचते हैं, किन्तु थोथे आत्मवाद और प्रयोगवाद से उन्हें संतोष नहीं होता, और वे अधिक सामाजिक विचारधाराओं से सम्बद्ध होते जाते हैं। इस प्रकार 'तार-सप्तक' के कवियों में अकेले 'अज्ञेय' ही आज इस आत्मवादी कला का झंडा ऊंचा रखे हुए हैं 'इत्यलम्' का कवि सामाजिक प्रगति की शक्तियों से कटा हुआ अलग रहता है, इसीलिए वह पंख-कटे पक्षी के समान है। जिस वर्ग की ओर वह आशा से देख रहा है, वहां अभी तक वह अपने लिए स्थान नहीं बना पाया है, और सर्वहारा के साथ तो उसके समान सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए कोई स्थान हो ही नहीं सकता। इसीलिए 'अज्ञेय' का साहित्यिक व्यक्तित्व अधर में झूलते 'त्रिशंकु' के समान वह सूनापन और एकाकीपन जो 'अज्ञेय' के पूरे साहित्य में मिलता है, जो उसके कुंठित व्यक्तित्व का परिचायक है, समस्त पच्चीकारी और मीनाकारी के बावजूद प्रकृति और प्रेम-सम्बन्धी रचनाओं में भी प्रकट होता है।

सेमर के फूल का वर्णन मानो कवि का ही वर्णन है......कवि का उद्धत अहम् प्रेम के अन्यतम क्षणों में भी नहीं परास्त होता...'बाहु मेरे रुके रहे' शीर्षक कविता में 'अज्ञेय' लिखते हैं—'नहीं मुझ में तीव्र कोई अहं की अभिव्यंजना जागी, नहीं चाहे, प्राण तुम प्रत्येक स्पन्दन की,...यह स्वाभाविक ही है कि ऐसे अहम्वादी कवि के मन में यह सन्देह है कि उसके प्रिय तक उसकी वाणी पहुंचती भी है या नहीं। तभी वह समर्पण में कहता है—'सुनो कैरा सुनो, क्या मेरा स्वर तुम तक पहुंचता है ?'''[1]

बँगला और हिन्दी में ही नहीं, भारत की प्रत्येक उन्नत प्रान्तीय भाषा की नूतन कविता में आज एक ही समस्या कवि के सम्मुख उपस्थित है। दुर्बोध और जटिल प्रतीकों और भावचित्रों द्वारा आत्मकेन्द्रिक, ह्रासोन्मुखी कला को आगे बढ़ाने का व्यर्थ प्रयत्न किया जाय या सचमुच स्वस्थ जनसम्पर्क द्वारा प्राणवान कला को अग्रसर किया जाय, जिसके साथ-साथ इतिहास के पहिये भी आगे बढ़ें, जिसकी प्रेरणा से पुराने चेहरे खुद-ब-खुद उतरते चले जायँ, जनता और संस्कृति के बीच के पर्दे गिर जायँ, जिसके प्रकाश में जनता स्वयं देख सके कि कौन अतीत है और कौन भविष्य, और जिसके तार-तार से यह आवाज निकल रही हो,—कब तक तुम परम्परा के मुर्दा अंगों को थामे रहोगे ? इस प्रश्न का उत्तर दिये बिना आज का नूतन कवि आगे नहीं बढ़ सकता। सचमुच यह सौ प्रश्नों का एक प्रश्न है, जिसे सुना-अनसुना नहीं किया जा सकता। नई शैली की कविता में आज सर्वत्र यही प्रश्न गूंज उठा है, इस नूतन कविता-आन्दोलन के साथ मेरा सम्पर्क पहले से कहीं गहरा हो चुका है, यही कारण है कि मैं आज अपनी रचनाओं के लिए आलोचक के सामने पहले से कहीं अधिक जवाबदेह हूँ।

: २ :

इलियट की प्रसिद्ध कविता 'दि वेस्टलैंड', जिसे कवि ने सन् १९२१ में प्रस्तुत किया था, प्रथम महायुद्धोत्तर-काल के विनाश-चिह्नों की कविता है। कवि ने देखा कि सभी कुछ आधारहीन हो चुका है और समूचा यूरोप ताश

---

१ प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'इत्यलम्'—अभिजातवर्ग की ह्रासोन्मुखी कला, नया साहित्य जुलाई, १९४९

के पत्तों के घर के समान ढह चुका है। जैसा कि स्वयं कवि ने स्वीकार किया है उसे इस कविता का शीर्षक तथा इसने अनेक प्रतीक कुमारी एल० वैस्टन की पुस्तक 'फ्रॉम रिचुअल टु रोमांस' (धार्मिक अनुष्ठान से वीरगाथा की ओर) से प्राप्त हुए थे। फ्रेज़र की मनुष्य-विज्ञान सम्बन्धी पुस्तक 'दि गोल्डन बावो' (सुनहरी टहनी) से भी कवि को भावचित्रों के निर्माण में सहायता मिली थी। शेक्सपीयर और बोदलेयर की कुछ पंक्तियां हू-ब-हू उठाकर रख दी गई हैं। 'इनफरनो' के अतिरिक्त उपनिषद् और बुद्ध-प्रवचन की प्रतिध्वनि को भी भुलाया नहीं गया। इङ्गलैण्ड के युद्धोत्तरकालीन साधारण बोलचाल के शब्द भी, जिन्हें इससे पहले कभी साहित्यिक पदवी नहीं मिली थी, कवि की लेखनी को छू-छू जाते हैं। इस कविता में टायरेसिया[1] का चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके विषय में कवि ने स्पष्ट कर दिया है कि वह एक दर्शक मात्र है और वस्तुतः इस कविता के पात्रों में उसका समावेश नहीं किया गया। फिर भी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है और सभी पात्रों को एक सूत्र में पिरोता है। वह जो कुछ देखता है वही कविता का सार है। जैसा कि कवि ने ज़ोर देकर कहा है—'टायरेसिया का हृदय दो जीवनों के बीच स्पन्दित हो रहा है—एक वयोवृद्ध जिसके शरीर पर झुर्रियोंवाले उरोज हैं।' इस प्रकार टायरेसिया युग-सन्धि का व्यंग्य चित्र है जिसे दो युगों का खिचाव अनुभव हो रहा है।

टायरेसिया के समान आज का कवि जीवन के दोराहे पर खड़ा है। एक ओर अतीत है; दूसरी ओर वर्तमान। एक दर्शक के समान वह अतीत को लाँघता हुआ वर्तमान की दलहीज़ पर आ खड़ा हुआ है और सोचता है कि वह स्वयं उस अवसर पर उपस्थित था जब सर्वप्रथम वैदिक कवि गुनगुना उठा था—

"साथ-साथ चलो, साथ-साथ बोलो, साथ-साथ अपने मन को मिलाओ,

---

१ यूनानी गायक जो अकस्मात् ज्ञान और कला की देवी एथिना को स्नान करते देखने के कारण उसका कोपभाजन बन गया था और एथिना ने उसकी आँखों पर पानी के छींटे मारते हुए उसे एकदम अन्धा कर दिया था और फिर देवी एथिना ने भूल का प्रायश्चित्त करते हुये उसे भविष्यवक्ता बना दिया था।

क्योंकि देवता भी एक होकर अपना भाग ग्रहण करते हैं।

"हमारा मन्त्र समान है, हमारी समिति समान है और हमारे मन और चित्त समान हैं।

"हम समान रूप से मन्त्र पढ़ते हैं, समान रूप से आहुति देते हैं, हमारे संकल्प और हृदय समान हैं, हमारे मन समान हैं जिससे सबका ऐक्य होता है।"[1]

फिर वह सोचता है कि वर्तमान की आवाज़ तो इससे एकदम भिन्न है। बार-बार उसे आर्य-सभ्यता के उस पुण्य-युग की याद आती है जब उसने स्वयं वैदिक कवि के मुख से सुना था—

"भूमि स्वयं क्षमा का रूप है।

"प्रत्येक प्राणी दाहिनी और बाईं करवट से उस पर लेटता है और वह सभी का बिछौना बनी है।

"भद्र और अभद्र दोनों की मृत्यु उसकी गोद में होती है।"[2]

वह एकदम भय से काँप उठता है जब उसे ध्यान आता है कि किस मुँह से भूमि मानव को क्षमा कर सकती थी जब उसने हिरोशिमा और नागासाकी पर अणु बम गिरा कर लाखों प्राणियों का संहार किया था। वह सोचता है कि उसने स्वयं अपने कानों से वैदिक ऋषि के मुख से यह वाणी सुनी थी कि हमारे पूर्वजनों ने ही तो शत्रुओं को पराजित करके पृथ्वी को शत्रुरहित बनाया और अपनी विजय-दुंदुभी बजाई (यस्यां वदति दुंदुभिः)।[3] वर्तमान पर विचार करते हुए उसे लगता है कि उस दुंदुभी के स्वर व्यर्थ चले गये, क्योंकि आज भी मानव को मित्रों से कहीं अधिक शत्रु ही नज़र आते हैं। टायरेसिया का मस्तिष्क फिरकी की तरह घूमता है, कभी पीछे की ओर, कभी आगे की ओर। वह सब जानता था कि वैदिक कवि कुछ भी कहता रहे भविष्य के गर्भ में तो दूसरी ही भावनाएं करवट ले रही हैं। उसने स्वयं सम्राट् अशोक को कलिंग-युद्ध के पश्चात् युद्धविरत होकर गिरनार के १३ वें शिलालेख पर वह लिखवाते देखा था—'मनुष्यों का वध, मृत्यु तथा देश-

---

१ ऋग्वेद १०, १९१, २-४

२ पृथिवीसूक्त, २९, ३४, ४८

३ वही, ४१

निष्कासन देवानां प्रिय द्वारा कष्टदायक तथा अप्रीतिकर माना गया (वधसे मरणं व अपवाहो व जनरु)।' पर उसने उसी समय यह बात कह दी कि देवानां प्रिय भूल कर रहे हैं यदि वह सोचते हैं कि अब कभी युद्ध नहीं होगा।

टायरेसिया ने ईसवी प्रथम शताब्दी में महान् कवि नाट्यकार अश्वघोष को देखा था। उसने अश्वघोष से उसी समय कह दिया था—अभी तो कवि आर्यशूर और नाट्यकार भास का जन्म शेष है। अगली दो शताब्दियों में उसने आर्यशूर और भास को लेखनी आज़माते देखा। उसने आर्यशूर और भास से साफ़-साफ़ कह दिया था कि अभी तो कालिदास का जन्म शेष है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी की सन्धि में सर्वश्रेष्ठ कवि और नाट्यकार कालिदास ने साहित्य की बागडोर सँभाली। उसने कालिदास से भी कह दिया था कि अभी तो दंडी और बाण आनेवाले हैं। छठी-सातवीं शताब्दी में उसने दंडी और बाण से भेंट की और उनसे कहा—मैं प्रसन्न हूँ कि आप अपनी प्रतिभा का एक नये क्षेत्र में उपयोग करने जा रहे हैं, आनन्दपूर्वक गद्य-काव्य उपन्यास लिखिए, पर अभी गद्य-साहित्य के युग के आने में बहुत देर है! टायरेसिया को इतिहास के पहियों की गतिविधि कभी नहीं भूलती। वह खूब देख चुका है कि किस प्रकार भारत अनेक शताब्दियों तक केवल एशिया ही नहीं, समूचे तत्कालीन सभ्य जगत् के लिए प्रकाश फैलता रहा। क्या तिब्बत और मंगोलिया, क्या हिन्दचीन और हिन्देशिया—सभी स्थानों में भारत का ज्ञान-प्रसार एक अद्वितीय उदाहरण के रूप में अग्रसर होता रहा। टायरेसिया इन शताब्दियों के महान् संस्कृति-प्रभाव को देखते हुए यह भी जानता था कि यही लोग जो आज प्रकाश फैलाने निकले हैं, कल अन्ध अभिमान और कूप-मंडूकता के शिकार हो जायँगे! पर जब भारत विश्व की दौड़ में पीछे रह गया, टायरेसिया ने फिर से देश के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की। उसे मालूम था कि अनेक प्रान्तीय भाषाएँ जनता की भावनाओं का सफल माध्यम बनेंगी। किस प्रकार रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी क्रमशः बँगला और गुजराती-साहित्य को शक्ति प्रदान करेंगे और उसकी वाणी का प्रभाव समूचे भारत की साहित्य-धारा पर पड़ेगा, टायरेसिया को यह बात बहुत पहले ही मालूम हो गई थी। किस प्रकार हिन्दी की शक्ति बढ़ेगी और राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होगी, यह भी टायरेसिया ख़ूब जानता था। रवीन्द्र-गांधी-विचारधारा पर टायरेसिया को गर्व है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि अब

वह भविष्य-द्रष्टा नहीं रहा। आज भी उसकी आँखें वर्तमान के छोर को चीरती हुई भविष्य में झाँक रही हैं।

कविता का भविष्य क्या है? यह प्रश्न आज के कवि को भी वैसे ही झँझोड़ रहा है जैसे यह आधुनिक कविता के आलोचक और पाठक का ध्यान खींचता है। डा० अब्दुल अलीम ने बम्बई में चौथे अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन में भाषण देते हुये ठीक ही कहा था—"हमें समझना चाहिए कि हम जनता के आन्दोलन के जितना ही पास जाते हैं, हमारा साहित्य उतना ही ज़्यादा गहरा और असर पैदा करनेवाला होता है। अख़बार की ख़बरों पर लिखी गई कहानियों में कोई दम नहीं होता। कोई चाहे तो मध्य-वर्ग के जीवन पर ही लिखे; लेकिन ऐसे साहित्य में इतना ज़रूर होना चाहिए कि उससे आज के मध्यवर्गीय जीवन के अन्तर्विरोधों की झलक मिले। प्रगतिशील लेखकों पर ऐसी कोई कैद नहीं है कि वे हर हालत में किसानों और मज़दूरों पर ही लिखें।"[1] जो समस्या कहानी-लेखक की है वही बहुत-कुछ कवि की भी है। कहानी और कला की अभिव्यंजना-शैलियां कितनी भी पृथक् क्यों न हों, दृष्टिकोण का प्रश्न तो कवि और कहानी-लेखक के सामने बराबर है।

जहाँ प्रगतिशील दृष्टिकोण की महत्ता स्वतःसिद्ध है, वहां अभिव्यंजना-शैली की सफलता के प्रयास भी आवश्यक हैं, जैसा कि आधुनिक बँगला-साहित्य की चर्चा करते हुए श्री अमरेन्द्रनाथ मित्र ने लिखा है—"बहुत-से मार्क्सवादी साहित्यिकों में एकाग्र कला-साधना का एकदम अभाव है। बहुत-से रास्ते ही में बाज़ी मारना चाहते हैं। बहुत-से लोग टेकनीक और कला-कौशल पर अधिकार करना नहीं चाहते। वस्तु जगत् के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष और प्रगतिशील अनुभव भी बहुतों में नहीं है। उनमें से अनेक ने दूसरों की चेतना को प्रभावित करने की क्षमता को प्राप्त नहीं किया है।"[2]

स्पष्ट है कि कवि को आज बहुत जागरूक रहने की आवश्यकता है। उस की पृष्ठभूमि में उसकी जन्मभूमि का ही इतिहास तो रहेगा ही। लोककथा और लोकगीत में अंकित जन-मन के अनगिनत भावचित्र भी उसके सम्मुख

---

१ हंस, जुलाई १९४९, पृष्ठ ५९७

२ हंस, अप्रेल १९४९, में श्री वीरेन पाल द्वारा 'बंगला-साहित्य की कुछ धाराएं' शीर्षक लेख में उद्धृत, पृ० २७१

उपयुक्त अवसर पर स्वयं थिरक उठें और उसकी प्रेरणा को नया रूप दें, यह भी आवश्यक है। अच्छा हो, यदि विश्व-साहित्य की प्रगति का भी उसकी पृष्ठ-भूमि में समावेश हो जाय। वही तो आज टायरेसिया भी कहना चाहता है। कवि सुने न सुने, टायरेसिया का तो यह कर्त्तव्य है कि वह कवि तक अपनी आवाज़ पहुँचाता रहे। टायरेसिया तो किसी भी साहित्यकार की प्रतिभा का प्रतीक है। वह सदा उसके निकट रहता है।

एक स्थल पर आधुनिक बँगला कवि विष्णु दे कह उठते हैं—

चम्पा तोमार मायार अन्त नेइ
कतो ना पारुल रांगानो राजकुमार
कतो समुद्र कतो नदी होलो पार
विराट् बांगला देशेर कतो ना छेले
अवहेले सय सकल यंत्रणाइ—
चम्पा जखन जागबे नयन मेले।

—'चम्पा तुम्हारी माया का कोई अन्त नहीं है
कितने पारुल को प्रेम से अनुरंजित करनेवाले राजकुमार
कितने समुद्र, कितनी नदियां पार हो गये
विराट् बंगाल देश के कितने लड़के
सभी यातनाओं को उपेक्षा के साथ सहन करते हैं
इस आशा से कि चम्पा अब आँख खोलकर जाग उठेगी।

यहाँ विष्णु दे बंगाल को पूरी कहानी में नूतन प्राण-प्रतिष्ठा करने में सफल हुए हैं। जनता की आशा को वे अपनी विशिष्ट शैली में झंझोड़ते हैं। यह तो आवश्यक है कि कवि भीड़ में खड़ा होकर भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बनाये रखे।

गुजराती कवि सुन्दरम् अहमदाबाद पर व्यंग्य कसता है—

अम्दावादना शहेरमां भाई
शेठिया लोकनी मंडली भाई

सौ-सौ मील चलावे
भारत-केरा गामडामां भाई
राम ना राज मां मानस ने भाई
चीथरूं हाथ न आवे !

—'अहमदाबाद के शहर में, भाई !
सेठ लोगों की मंडली, भाई,
सौ-सौ मिलें चलाती हैं
भारत के ग्रामों में, भाई;
राम के राज्य में मनुष्य को, भाई
चिथड़ा भी हाथ नहीं आता !'

गुजराती कवि 'स्नेहरश्मि' ग्रामों की इसी भूखी जनता की ओर देखते हुए कहता है—

मूगुं हल खेडुत नो बोले
एरण जागी आँखो खोले
पीडित धरती अन्तर खोले
प्रगटे नवी चीनगारी
रे पलटे अवनि सारी

—'किसान का गूंगा हल बोले
लुहार का एरन आँख खोले
पीड़ित धरती हृदय खोलकर दिखाये
नई चिनगारी पैदा हो
रे सारी धरती पलटे ।'

मराठी कवि यशवन्त थोड़ा आगे बढ़कर कहता है—"सिंहासन पर की कठपुतली को खेतों का स्वामी नमस्कार करता है । पर मैंने तो सच्चा भूपति ढूंढ़ लिया है । उस खेतिहर भूपति के लिए मैंने अपना नमस्कार रख छोड़ा है।"

एक और स्थल पर आज का मराठी कवि कह उठता है—

"ओ रेलगाड़ी ! कब तक तू इस सुरंग में खड़ी रहेगी ?"

किसान की आवाज़ में ऐसे अनेक प्रश्न भी उभरते हैं। रेलगाड़ी को तो आगे चलना ही चाहिए। रुकना तो जीवन-ध्येय नहीं।

'कुकुरमुत्ता' में निराला की लेखनी हिन्दी कविता में सामाजिक व्यंग्य के नये रंग प्रस्तुत करती है—

चुन्ने खाँ के हाथ का मैं ही सितार,
दिगम्बर का तानपूरा, हसीना का सुरबहार।

× ×

कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर,
टी० एस० इलियट ने जैसे दे मारा,
पढ़नेवालों ने जिगर पर हाथ रखकर
हाथ कहा, 'लिख दिया जहाँ सारा'...

× ×

प्रोग्रेसिव का जैसे कलम लेते
रोका नहीं रुकता जोश का पारा।

× ×

गोली की माँ बंगालिन, बहुत शिष्ट
पोयट्री की स्पेश्यलिस्ट,
बातों में ज्यों मजती थी,
सारङ्गी वह बजती थी।

× ×

चलीं दोनों जैसे धूप-छाँह,
गले गोरी के पड़ी बहार की बाँह।

× ×

सुबह का सूरज हूँ मैं ही
चाँद मैं ही शाम का!

टायरेसिया सब सुनता है। वह सब पहले से ही जानता है कि आज कवि क्या कहने जा रहा है। वही तो जाने-अनजाने कवि को गुदगुदाया करता है। देश का चित्रण बहुत कर चुके, वह कवि से कहता है, पास-पड़ोस

के देशों की ओर तो देखो। उर्दू कवि अली सरदार जाफ़री जैसे ऐसे ही किसी परामर्श की प्रेरणा से चीन के सम्बन्ध में कहता है—

इन्कलाब अब कहाँ है
—कौन-सी वादियों में
—कौन-सी मंजिलों में
मेरे शौक का कारवाँ है ?
रूस भी अब सुर्ख़रू और यूरोप का मशरिक भी गुलनार है
हम भी इस जाने अक्सरे रवाँ के लिए
अपनी आँखें बिछाये हुए हैं
अपने ज़ख़्मों की पोशाक पहने खड़े हैं
अपने ख़्वाबों की शमआ जलाये हुए हैं।

मैंने तारीक रातों के रोशन सितारों से पूछा
वर्क़ रफ़तार लमहों के उड़ते शरारों से पूछा
इन्कलाब अब कहाँ है
आफ़ताब अब कहाँ है
"चीन में !"
—कोहसारों से आवाज़ आई
मर्गज़ारों
गर्जते हुए आबशारों
दहकते हुए लालाज़ारों से आवाज़ आई !

"चीन में, चीन में !"
वादियाँ गूँज उठीं
कोह की चोटियां गूँज उठीं
नदियां चीन का नाम लेकर समुन्दर में दौड़ीं
चीन का नाम लेकर समुन्दर से काली घटाएं उठीं
शर्क और ग़रब
चीन का नाम बारिश और कतरों की सूरत में टपका

प्यासी धरती ने इस नाम से अपने लब तर किये
और किसानों ने खेतों को सींचा
कोपलें नर्म मिट्टी से इस नाम को अपने दिल में छिपाकर उगीं
और यह नाम सौ फूल बनकर खिला
शहद और इत्र और रंग बनकर ज़माने में फैला
हवाओं में लहराया
शोलों में लपका
और एक आतशीं दास्तां बन गया
साफ काग़ज़ ने इस नाम को अपने पाकीज़ा दिल पर लिखा
परचमों ने इसे अपनी पेशानियों पर सजाया
और साज़ों ने गाया
अब हवा—
चीन के नाम पर गुनगुनाती है
और अब फ़ज़ा—
चीन के नाम पर मुस्कराती है
और कुर्रए अरज़ के शायरों के लिए
चीन सब से बड़ा गीत, सब से हसीं नज़्म है
चीन इक वलवला, इक उमंग और इक अज़्म है
चीन इक वली है, एक उपदेश है, एक पैग़ाम है
एशिया के लिये एक इनआम है ।

× ×

मौत और खून की फतह करते चलो
चीन की सरज़मीं
एक कालीन की तरह क़दमों के नीचे बिछी है
शहर और गाँव शरबत के लबरेज़ प्याले हैं
जो वादियों और मैदानों की
किश्तियों में सजाये गये हैं
एक-एक करके इनको उठा लो
अपनी सदियों की प्यास अब बुझा लो ।

अली सरदार जाफ़री ने मुक्त छन्द के अनेक सफल प्रयोग किये हैं, जिनमें एक पहाड़ी नदी का सा बहाव है, दृष्टिकोण स्पष्ट है। निस्सन्देह उन पर रूसी कवि मायकावस्की का सब से अधिक प्रभाव पड़ा है जिसने यह बात ज़ोर देकर कही थी—"साहित्य-क्षेत्र में केवल स्वस्थ दृष्टिकोण से काम नहीं चलेगा, मुझे अपनी कला और उसकी अभिव्यंजना को अपने साहित्यिक प्रतिद्वन्द्वियों के स्तर तक उठाना होगा।"

आज के कवि के लिए सचमुच यह आवश्यक हो गया है कि वह विश्व की कविता का अध्ययन करे। इससे कवि के सम्मुख नये क्षितिज उभरते हैं, उसकी आँखें अधिक देख सकती हैं, मस्तिष्क अधिक सोच सकता है। हां, उसमें अनुकरण-प्रवृत्ति का ख़तरा अवश्य है, जिससे एक जागरूक कवि सदैव बच सकता है। यह भी आवश्यक है कि विभिन्न कवियों के सम्बन्ध में इन्हें पर्याप्त ज्ञान हो।

'पाजामा-धारी बादल' शीर्षक कविता मायकावस्की ने सन् १९१४ में जब लिखी थी, जब उसकी आयु बाईस वर्ष की थी। विध्वंसक क्रियाशीलाओं में भाग लेने के अपराध में उसे अडीसा के कला-विद्यालय से निकाल दिया गया था। वहीं मेरिया से उसका प्रेम हो गया जो बुद्धि और सौंदर्य में असाधारण थी। पर मेरिया के साथ उसका प्रेम असफल रहा। उससे कवि का मानसिक संतुलन जाता रहा। भावना के अतिरेक में उसने जलते-उबलते मन से इस कविता की रचना की—

तुम इसे व्यर्थ प्रलाप समझोगे
पर यह एक घटना है
यह अडीसा की घटना है
'मैं चार बजे तुम्हें मिलने आऊंगी,' मेरिया ने कहा
आठ
नौ
दस
और तब—

रात के बारह बजे की अन्तिम टन-टन कुछ इस प्रकार शून्य में

गिरती हुई-सी अनुभव हुई—
जैसे सूली से अपराधी का सिर

× × ×

रात का अँधेरा कमरे में उभरता चला आ रहा
पर मैं अपनी जागती और बोझिल आँखों को
अंधेरे से अटी हुई गर्त्ता से हटा नहीं सकता

× × ×

सहसा दरवाज़े ने अँधेरे में दाँत कटकटा कर अपना जबड़ा खोला

× × ×

तुमने बड़े वेनियाज़ अन्दाज़ में प्रवेश किया
स्वीकृति और अस्वीकृति से बेपरवाह
और हाथ में थामे हुए दस्तानों को तोड़ते-मरोड़ते हुए कहा—
"शायद तुम्हें विश्वास न आये—पर
यह सत्य है कि मैं विवाह कर रही हूँ।"
तो क्या?
कर लो विवाह
मुझे अपनी भावनाओं पर अधिकार है
देखो, मैं बिल्कुल शांत हूँ
यद्यपि यह शान्ति लाश की नब्ज़ की शान्ति है

× × ×

मेरी प्रशंसा करो
संसार के महान् व्यक्तित्व मेरे पासंग भी नहीं
अपने से पहले आनेवाली प्रत्येक वस्तु पर
मैं अस्तित्व की मुहर लगाता हूँ

× × ×

मेरे पैर में चुभनेवाली जूते की एक कील
गेटे के भयानक कल्पना-चित्र (फाउस्ट) से अधिक नहीं है

× × ×

मैं वह देख रहा हूँ, जो किसी को दिखाई नहीं दे रहा
समय के शिखरों के ऊपर से आते हुए
(जहां भूखे हजूम के सिरों की लहरें
—आदमी की नज़र को काट देती हैं)
क्रांति के कांटोंवाले ताज को पहने
मैं सन् १९१६ को उभरते देख रहा हूँ
और मैं—तुम्हारे बीच उसका सन्देश-वाहक हूँ
जहां कहीं दर्द है वहां मैं हूँ
हर उस आंसू पर जो बहाया जाता है
मैं अपने को सूली पर लटका हुआ अनुभव करता हूँ।

एक प्रकार से मायकावस्की ने इस कविता में प्रथम महायुद्ध के सम्बध में भविष्यवाणी की थी। युद्ध का रक्तपात आरम्भ हुआ तो उसने 'अपने उच्चतम स्वर में' शीर्षक कविता में कहा था—

सुनो !
आगामी पीढ़ियों में आनेवाले सम्मानित साथियो !
वारिसो !
हमारे युग में जमी हुई मलिनताओं की तह उलट कर
अन्धकारमयी और मृतप्राय शताब्दियों में से हमारे समय की
और निहारते हुए
सम्भव है, तुम मेरे—अर्थात् मायकावस्की के सम्बन्ध में पूछो
और तुम्हारे ज्ञानी
पुस्तकीय ज्ञान की दलदल में कुलबलाते हुए
यह रहस्योद्घाटन करें
कि किसी समय एक आग्नेय गायक था
जिसे गतिरोध से घोर घृणा थी।
प्रोफेसर !
अपनी आँखों से ऐनक उतार दो
मैं तुम्हें अपने युग और अपने सम्बन्ध
स्वयं बताता हूँ

मैं दारोगा सफाई और पानी ढोनेवाला भिश्ती हूँ
जिसे क्रान्ति ने मोरचे पर नियुक्त किया है।

यह कविता काफी लम्बी है। इसमें हमें मायकावस्की की कला का पूरा परिचय मिलता है। २५ मार्च १९३० को, जब रूसमें मायकावस्की-दिवस मनाया गया था, कवि ने एक सभा में स्वयं यह कविता पढ़कर सुनाई थी। पर उस समय यह अपूर्ण ही थी। इसके बीस दिन बाद १४ अप्रैल की रात को मायकावस्की ने रिवाल्वर से आत्महत्या कर ली और यह कविता अधूरी ही रह गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मायकावस्की को अपने देश के अनेक कटु आलोचकों का सामना करना पड़ा था जो उसे अन्त तक पहचानने में असमर्थ रहे, और शायद आत्महत्या का बड़ा कारण यही था, पर अन्तर्राष्ट्रीय कविता के इतिहास में वह चिर-स्मरणीय रहेगा।

१० जून १९४० को फासिस्ट अन्धकार के काले आवरण के नीचे फ्रान्स पर 'श्मशान-सा मौन' छा गया। फ्रान्स के जनवादी कवि लुई आरागों ने आशा और विषाद के स्वर छेड़ते हुए कहा—

सुदूर देश में खाली हाथों
मैं फ्रान्स को खोज रहा हूँ
इस अनन्त रिक्त में...

आधुनिक फ्रांसीसी कविता की चर्चा करते हुए फ्रांसीसी आलोचक ई० एफ० ई० शिओन ने ठीक लिखा है—"जैसा कि जर्मन कवि होलुएमन ने कहा है—'सम्भवतः आरागों भी यह मानते हैं कि सम्पूर्ण मानवता से प्रेम वही कर सकता है, जिसने कभी किसी व्यक्ति से प्रेम किया हो।' आरागों प्रारम्भ में 'सुरियलिस्ट' कवि थे। कल्पनामूलक लाक्षणिक अभिव्यंजना ही उन्हें सबसे अधिक प्रिय थी। स्वाधीनता-संग्राम के विद्रोह-गान लिखते समय भी उन्हें इस शैली से सहायता मिली, क्योंकि शत्रु के लिये लोक-रूपकों का अर्थ सहज नहीं था जिन्हें आरागों झट अपनी कविता में स्थान दे देते थे। आराग[ों] ने फ्रान्स के परम्परागत छन्दों और फ्रान्सीसी लोकगीतों की लयों को बड़ी कुशलता से अपनाया, जिससे वे फ्रांसीसी हृदय के सर्वप्रिय कवि

गये। एक विख्यात कविता में आरागों कहते हैं—

> प्रिये, जब मैं तुम्हारे बाहुपाश में था
> तब बाहर कोई गुनगुना रहा था
> एक पुरातन फ्रांसीसी गान
> आज अब मैं समझ गया
> कि मेरे मन में क्या बात है—
> उस गान की कड़ी ने एक नंगे पैर के समान
> मेरे मौन के हरे जल को प्रकम्पित कर दिया।

'नंगा पैर' स्पष्टतः फ्रांस की नग्न वास्तविकता का प्रतीक है, और कवि का मौन समूचे फ्रांस का मौन है जिसे फ्रांसीसी गान से झंकृत फ्रांस के पुरखाओं की आवाज़ ने झकझोर दिया।

इस प्रकार देश-देश में कवि ने यह भावना प्रतिध्वनित की है कि विजय और पराजय तो मानव के अपने हाथ में हैं। हां, यह तो आवश्यक है कि वह अन्याय के सामने सिर न झुकाये, जन्मभूमि के गौरव और मानवता के विनयघोष को वह अन्याय के सदैव अपने सम्मुख रखे।

मित्रता के सौ सामान हैं। फिर भी विश्व-शान्ति हरदम खतरे में है। एक महायुद्ध के पश्चात् दूसरा महायुद्ध आया। अब क्या तीसरा महायुद्ध भी आवश्यक है? युद्ध क्यों होते हैं? क्या युद्ध-भावना का अन्त नहीं किया जा सकता? ये प्रश्न आज का कवि सुने-अनसुने नहीं कर सकता। शायद कोई कवि से कहे कि युद्ध तो आर्थिक परिस्थितियों की उपज है, तुम इस में मत उलझो। पर कवि को चिन्तन से कौन रोक सकता है और यह तो आवश्यक है कि आज उसका चिन्तन पलायन के पथ पर न चले। कवि की बगल में बैठा हुआ टायरेसिया कह उठता है—यह तो अणुबम का युग है। हिरोशीमा और नागासाकी पर अणुबम गिराये जाने से पूर्व ही मैं जानता था कि हिंसा क्या रूप धारण करनेवाली है।

एक ऐसे विश्व की स्थापना, जिसमें सभी देश बराबर के हिस्सेदार हों, जिसके संरक्षण में प्रत्येक देश नये समाज को जन्म दे सके—यही तो आज के कवि का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है। और दो युगों के बीच का खिंचाव

अनुभव करता हुआ टायरेसिया कवि के चिन्तन और काव्य-सृजन में सहायक हो सकता है।

: ३ :

अब कुछ 'वन्दनवार' के सम्बन्ध में कहना उपयुक्त होगा। इस संग्रह की प्रत्येक कविता दो युगों के बीच के खिंचाव की कविता है इतना तो स्पष्ट है कि 'वन्दनवार' का मुख्य स्वर इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करता है। एक ही स्वर से तो गान की रचना असम्भव है। यह पर्याप्त है कि मुख्य स्वर को अपनी बात याद रहे और अन्य स्वरों पर छा जाने की भी उसमें क्षमता हो। जन्मभूमि मुझे प्रिय रही है। अतीत की थाती की उपेक्षा का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, पर वर्तमान और भविष्य के प्रश्न तो सुलझाने ही होंगे।

बाजारों में जो शोर आज है, वह कल से भिन्न है। इस शोर से भाग कर कवि चाहे तो एकान्तवास कर सकता है। पर यह जीवन से पलायन होगा। ये रेलगाड़ियों के पहियों की आवाज़ें, ये मोटरों, लारियों और ट्रकों का शोर, मिलों की चिमनियों से निकलते हुए धुवें और उनकी मशीनों से निकलनेवाली घरघराहट की आवाज़ें, जो प्रतिदिन कवि के कानों के पर्दे फाड़ने से बाज़ नहीं आतीं, इन्हें क्या आज का कवि सुना-अनसुना और देखा-अनदेखा कर सकता है ? समुद्र में जहाज़ चलते हैं, पहले से कहीं अधिक, पहले से कहीं तेज़—उन्हें भी देखा-अनदेखा नहीं किया जा सकता। आकाश में वायुयान अधिक दिखाई देने लगे हैं। अब यदि उड़ते पक्षी के साथ-साथ वायुयान की ओर भी कवि का ध्यान चला जाय तो यह उसका अपराध नहीं। कारख़ानों की मशीनें आज मज़दूरों के दिलों की धड़कन से परिचित हो चुकी हैं—कवि को यह चित्र इस रूप में प्रस्तुत करना होगा। होटल हैं, रेस्टोरां हैं, काफी हाउस हैं, जहां किशोर अवस्था के लड़कों से यन्त्रवत् काम लिया जाता है, कवि की आँखें सब देखती हैं। हर शहर में कई-कई सिनेमा हाउस हैं, जहां चित्रपट पर देश-विदेश के जीवन के अनेक चित्र उभरते हैं—इन सवाक् चित्रों की सफलता और विफलता कवि को झकझोर कर रख देती है। रेडियो भी कवि को छू-छू जाता है। विज्ञान की विजय के सम्मुख मानव नतमस्तक है। कवि यह सब देखता है और इससे आगे की बात सोचता है तथा

कहने की चेष्टा करता है। इसके लिए नई शब्दावली चाहिए, छन्द के नये स्वरों के बिना भी बात नहीं बनती।

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मैंने छन्दःशास्त्र की रूढ़ियों का अनुसरण नहीं किया। मात्राएं गिनने का न समय है, न धैर्य। इसकी मैं बहुत आवश्यकता भी नहीं समझता। जहां तुकान्त सम्भव हो सका, और इसे मैंने उपयुक्त समझा, वहां प्रस्तुत कर दिया, जहां न यह सम्भव था और न इसके बिना काम रुक सकता था, वहां इसके लिए ख्वाह-म-ख्वाह वास्तविक अभिव्यक्ति की बलि नहीं दी गई, क्योंकि प्रायः तुकान्त मिलाने के लिए मूल भाव से भटक कर अटकल-पच्चू भाव के पैवन्द लगाने पड़ते हैं, जो मुझे एकदम नापसन्द हैं। मैंने सदैव कानों के तराज़ू से ही काम लिया है। मेरी दृष्टि में परम्परा की उपयोगिता वहीं तक है जहां तक वह कला के मूल उद्देश्य की सिद्धि में सहायक होती है।

इस संग्रह की 'हिन्दुस्तान', 'रेशम के कीड़े' और 'काफी हाउस' शीर्षक कविताएं सन् १९४३ में लिखी गई थीं, जब बंगाल के अकाल ने मेरी वेदना को झकझोर दिया था। इनकी रचना करते समय मैंने इस बात का विशेष ध्यान रखा था कि वे केवल सामयिक-सी तुकबन्दी बनकर न रह जाएँ। अतः यदि वे आज भी पाठक की कल्पना को छू सकेंगी तो मैं समझूंगा कि मैं वस्तुतः अपने प्रयत्न में सफल हुआ हूँ, क्योंकि कविता को मैं तूफानी जल पर बहते हुए तिनके नहीं समझता। उन तिनकों में अपनी गति नहीं होती। कविता के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसमें अपनी एक गति हो, अपना एक दृष्टिकोण, और एक चिरंजीवी कलाबोध भी।

'युग जाता है, युग आता है' शीर्षक कविता दूसरे महायुद्ध का अन्त होने पर लिखी गई थी। इसी प्रकार 'मिस्रदेश' को प्रेरणा मिस्र की राजनीतिक स्थिति से प्राप्त की गई थी। 'एशिया' भी इसी श्रेणी की कविता है। इसे लिखते समय चीन के गृहयुद्ध से प्रेरणा मिली थी। 'बलिदान' गांधीजी के महाप्रयाण की कविता है।

'ब्याह में ढोल' में यंत्र-युग के बढ़ते हुए प्रसार पर एक व्यंग्य है। कवि अपनी जीवन-संगिनी को पग-पग पर इस बात का ध्यान दिलाता है कि जीवन का पुराना रेडियो अब शायद ठीक काम नहीं दे रहा, इसे और ऊँचा

करने की आवश्यकता है।

'रावण लीला', 'पुरी', 'कुल्लू का देवता' और 'ताजमहल'—इन कवि-ताओं को व्यंग्य जीवन की गहराइयों से उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। 'फागुनी व्यंग' में भी किसी एक व्यक्ति पर छींटे कसने का यत्न नहीं किया गया। पर 'हातो' का व्यंग्य शायद सबसे अधिक गहरा है। काश्मीर का यह मज़दूर जब घर से बाहर होता है, उसे अपनी गली की याद आती है, अपने घर में चलनेवाले नाटक को भी वह अपनी कल्पना द्वारा देख ही सकता है।

'शाल', 'कवि और शिरीष', 'टोडा संस्कृति', 'सरोजिनी नायडू', 'आषा-ढस्य प्रथम दिवसे', 'भारतमाता' और 'मणिपुरी लोरी'—इन कविताओं के प्रेरणा-सूत्र सांस्कृतिक हैं, पर युग की छाया इन पर भी देखी जा सकती है। 'बन्दनवार' में कवि नये युग के स्वागत के लिए अपनी जीवन-संगिनी को सम्बोधित करता है जो अनेक वर्षों से उसकी यात्रा में साथ-साथ रही है—हाँ, यह वही प्रेयसी है जिसका एक चित्र 'प्रेयसी' शीर्षक कविता में प्रस्तुत किया गया है।

'गेहूँ की बालियाँ', 'कूचबिहार', 'गुलमोहर के फूल', 'खानाबदोश', 'सन्थाल छोरी' और 'अबाबील'—इन कविताओं के द्वारा स्थान-स्थान पर देखे हुए सौन्दर्य और कलाबोध की अभिव्यक्ति की गई है।

'गेटे' शीर्षक कविता, अन्तर्राष्ट्रीय कविता के प्रति कवि की आस्था की प्रतीक है। वस्तुतः आज का कवि यदि कोई काम की वस्तु लिखना चाहता है तो उसे अपने देश को विश्व का अंग समझकर सभी देशों के प्रति सद्-भावना की प्रतिष्ठा करनी ही होगी। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए मैंने यह उपयुक्त समझा कि इस संग्रह में कम से कम सात कविताएँ ऐसी भी अवश्य दी जायँ जिनके द्वारा हिन्दी-पाठक यह यह देख सकें कि दूसरे देशों में आज कविता किधर जा रही है। कुछ कवि ऐसे भी हैं जो आज के युग में भी अध्ययन से बिदकते हैं। उनसे अन्तर्राष्ट्रीय कविता की बात कहें तो वे नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उनमें कोई कवि ऐसा भी मिल जायगा जो कह उठता है—'अजी ये सब जूठे पत्ते हैं। मैं भला इन्हें क्यों चाटूँ? मेरे भीतर सब-कुछ है। मैं तो भीतर ही झाँकूँगा!' पर मैं यह समझता हूँ कि यह धारणा ठीक नहीं। मानव ने देश-देश में जो कुछ उपलब्ध किया है उस पर समस्त विश्व का अधिकार है। मैं किसी से अनुकरण के लिए नहीं कहता,

पर आज हमें अपनी आँखों से चतुर्दिक् देखना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय कला सिद्धि की उपेक्षा आज किसी प्रकार सम्भव नहीं।

हाँ, कुछ तो कहो, टायरेसिया! तुम चुप क्यों हो?

देवेन्द्र सत्यार्थी

१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली
२५ अक्तूबर, १६४६

युग द्वार

ब्याह के ढोल

लो बजे ब्याह के ढोल और गूँजी शहनाई अलसाई-सी,
ज़रा रेडियो को ऊंचा कर दीजो, दुलहन !
एक हाथ पर ठोड़ी टेके, एक हाथ से पर्दा थामे,
शायद सोच रही हो तुम—
अब कभी नहीं लौटेंगे प्रथम मिलन के क्षण
सेमल की हल्की आवारा रूई के गालों से;
जो भी हो, ये ढोल बजेंगे, नहीं रुकेंगे, दुलहन !

केसर रंग रँगे ये गान और नूपुर-ध्वनि तरल जुन्हाई-सी,
ज़रा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ये ढोल बजें ज्यों बरसें मेघ मूसलाधार
ये ढोल सुहाने लगते जैसे वीणा की झंकार
वंशी की लय ठंडी ओले-सी अब जमी-जमी-सी,
आलस-भरे अँधेरे में ज्यों झुक जाये दीये की बाती,
जो भी हो ये स्वर उभरेंगे, नहीं दबेंगे, दुलहन !

परी-कथा की राजकुमारी जागी उधर, इधर यौवन ने ली अंगड़ाई-सी,
ज़रा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
यह ध्वनि जो छू-छू जाती अल्हड़ मन के तार
यह ध्वनि जो लांघ आई है वीहड़ पथ कान्तार
जाने फूलों के हिय में यों मधु-पराग क्यों खिल-खिल उठता ?
जाने गृहद्वार नगर वन में ये उत्सव-दीपक कौन सँजोता ?
कुछ भी हो ये भेद खुलेंगे, नहीं छिपेंगे, दुलहन !

कम्पित कंठ-गान में सहसा उभरी अरुणाई-सी
ज़रा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ये ढोल जिन्हें सुनते ही मैं भी चिरनूतन दूल्हा बन जाता,
ये ढोल कि जिनकी सम्मोहक गत पर मनुआ अधीर हो उठता,
आँसू-रुके मचलते नयन, कभी न भूलें पहला परिचय
मन पर छवि अंकित होती ज्यों रेशम पर सिलवट का अभिनय
जो भी हो ये रंग खिलेंगे, नहीं बुझेंगे दुलहन !

छिः य' कागजी फूल अरे छिः वेणी सेंट से महकाई-सी
ज़रा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ढोल उधर—औ' इधर मशीनी युग के मानव,
ढोल उधर—औ' इधर फौलादी युग के दानव,
प्रेम नया क्या होगा रे यह वही कारवन कापी !
'कल' से 'आज' भला कितना नूतन हो सकता, प्रेयसि ?
जो भी हो छल-छद्म चलेंगे, नहीं रुकेंगे, दुलहन !

कागज़-मुद्रा-सा प्रेम चले दिन-रात शपथ भी छितराई-सी,

ज़रा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ये ढोल भयातुर अणु बम की खबरें सुन-सुन कर
ये ढोल भयातुर घोर द्वन्द्व-संघर्षों में घुन-घुन कर
बन्द नहीं होगी क्या रे यह गति अतिशयता ?
क्या न रुकेगी शोषण की बढ़ती आतुरता ?
जो भी हो, ये पहिये सदा चलेंगे, नहीं रुकेंगे, दुलहन !

कोलाहल का ज़ोर उधर, औ' इधर सभ्यता सकुचाई-सी,
जरा रेडियो को ऊँचा कर दीजो, दुलहन !
ढोल उधर—औ' इधर माँगतीं अंतड़ियाँ दो कौर !
ढोल उधर—औ' इधर मनुज खो बैठा पिछली ठौर !
इतिहासों में जिन ढोलों पर मानवता को गर्व रहा रे !
इस संकट में वही ढोल अब क्रूर व्यंग्य से भारी लगते !
जो भी हो ये ढोल बजेंगे, नहीं रुकेंगे, दुलहन !

शाल

पशमीने की शाल यही
हां, पशमीने की शाल
मानस-पट पर खिंची लीक-सी
एकाकिनि, प्रेयसि-सी लीक।
स्नेहमयी कहती थी वंशी-स्वर में—
ज़ोर शीत का बढ़ जाता है जब जाड़े में
फिर चनार के पत्तों की हो आग कांगड़ी के अन्दर
या बस पशमीने की शाल,
हम तो काश्मीर के जाड़े के हैं चिर-अभ्यस्त
तुम जरूर रख लो यह रेशम-चित्रित शाल।

कैसे गीली मिट्टी से आज
करूं उस प्रतिमा का निर्माण ?
कैसे नयन-कोर को छू लें मृदु मुस्कान ?
कैसे अंकित हो ओठों पर स्नेहासक्त मधुरिमा ?
शाल देख कर रह जाता हूँ

रख देता हूँ गीली मिट्टी
धो लेता हूँ हाथ।
उस क्षण की सुधि आज बनी क्यों हृदय-स्पन्दन ?
आज सजीव हो उठा फिर जीवन-अभिवादन
स्नेहमयी के गद्गद् स्वर में हुये सजग फिर मधुमय ताल।

आज आरती-स्वर में मुखरित
स्नेहमयी का गान
कहती थी—अपने हाथों से काता था पशमीना
ज्यों ममता काते आशाएं।
यह भी तो कहती थी—मैंने अपने हाथों इसे बुना
ज्यों आशा अपने करघे पर बुनती सपने,
अपने हाथों से ही सूई का सब काम किया।
वह क्षण था छुईमुई-सा क्षण
पाया था जब स्नेहमयी से यह अमूल्य परिधान
इसके सरस परस से जागे मन-पाताल।

कहती थी—सम्भाल कर रखियो
आगे सरक न जाये शाल।
मैंने कहा—पड़े क्या अन्तर ?
इन हाथों का स्मरण रहेगा।
बोली—शाल गँवा मत देना
मधुर स्नेह का चिरप्रतीक यह।
स्नेहमयी की हँसी बन गई
प्रश्न चिन्ह-सी

मीठी चुटकी
प्यार नहीं नाटक-भाषा रे, प्यार नहीं रे माया-जाल।

काजल की रेखाएँ थीं उसकी आँखों में मूक
कुहासे-सी साड़ी पहने थी
नील गगन का सम्मोहन-सा थिरक उठा उसके गालों पर
सोती स्वरलहरी-सी जागी उसकी वाणी
हेमन्ती सन्ध्या में जैसे ममतामयि विहगी का राग।
कवि की स्निग्ध प्रेरणा-सी
अम्लान स्नेह की एक रश्मि
श्रद्धा की प्रतिमा
कहती थी—छा जाओ जग पर ज्यों धरती पर गगन विशाल।

ओ छवि-सुधि के इन्द्रधनुष!
तुम मूर्त्त हुए सहसा उर में
ज्यों मौलसरी के फूल झरें कम्पित-से स्वर में,
पशमीने के सरस परस से आती यह आवाज़—
हम दूर देश के स्वर
स्नेह के स्वर
अरे हम भूत भविष्यत् वर्तमान के स्वर
आज हमारे तार-तार से बुन लो गान
बुन लो नूतन शाल।
स्नेहमयी! सुधि भीने क्षण का उड़ता रहे गुलाल।

पुरवाई की लहरों पर, ओ स्नेहमयी, अब

उड़ने लगा शाल का आंचल
सच है कोई फटे अँगोछे को भी तरसे
मिल जाये यदि यही शाल उसको भी
उसका मन-मयूर भी नाच उठे रे
पर तेरा अनुरोध यही था—
आगे सरक न जाये शाल।
बर्फानी संस्कृति की प्रतिमा
बर्फानी संस्कृति की महिमा
पशमीने की शाल यही, हाँ, पशमीने की शाल।

हातो[1]

उधर का खुदा है उधर
ओ' इधर का खुदा है इधर
पीर पंचाल![2]
मैं जानता हूँ
वर्फो-पटे ये किवाड़
महीनों तलक अब खुलेंगे नहीं।

खेलतीं छोरियाँ छत्तावल[3] की
खुले सिर
खुले पैर
वर्फों पै खेलें
नाजली मेरी बेटी भी खेले

---

१ काश्मीरी मजदूर
२ पीर पंचाल पर्वत
३ श्रीनगर की एक बस्ती

नाज़ली मेरी है हूरज़ादी
नाज़ली चाँद की चाँदनी
देखती है बड़े शौक से सबकी बारात
सुने ब्याह का ढोल औ' नाच उठे
वह भी तो दुलहन बनेगी कभी
और खुल जायेंगी मेढ़ियाँ[४]
उसकी कच्ची कँवारी सभी मेढ़ियाँ।

आज फिर आया होगा सुभाना हमारे यहाँ
औ' खड़ा रह गया होगा कुछ देर और
चौकीदारी-वसूली के बाद
दाढ़ी के बालों में से उसने देखा तो होगा
कि कैसी है मेरी कतीज
वह मेरी अबाबील।

ओ मेरी कतीज,
ओ अबाबील,
घर में बड़े शौक से ताप ले काँगड़ी,
यह चिनारों के पत्तों की आग—
यह भला कब बुझी?
हाँ हाँ, सरवर निरा शाहजादा

---

४. कश्मीर में यह प्रथा है कि बचपन से ही कन्याएं अपने केशों की मेढ़ियां गूँथना शुरू कर देती हैं जो पवित्रता की प्रतीक समझी जाती हैं। विवाह के पश्चात ये मेढ़ियाँ खोल दी जाती हैं।

हाँ हाँ, सरवर फरिश्ता
मैं सब जानता हूँ कि वह दिल का दरिय
बैठकर तापता काँगड़ी तेरे साथ
कर्ज़ उसका तुमने चुकाया
खुशी से उछल कर कहे बार-बार—
अब के गुले लाला[1] होगा ज़रूर
अरे अबके सरवर का बेटा।

पिघलेंगी फिर से ये बर्फ़ ज़रूर एक दिन
फूटेंगी फिर से नई कोंपलें एक दिन
फूटेंगे खेतों में दाने
उड़ा लाई थीं रे हवाएं जिन्हें
दूर से—हाँ, बड़ी दूर से।

मेरी कतीज,[2]
ओ अबाबील,
घर में बड़े शौक से ताप ले काँगड़ी।
अरे, छत्तावल का खुदा जानता है
कि इस तेरे बेटे को भी
मेरी तरह हातो बनकर
आना पड़ेगा इधर पीर[3] के पार।

---

१ एक प्रकार का लाल फूल; बालक के लिए यह लोकप्रिय नाम है।
२ कतीज कश्मीरी भाषा में अबाबील को कहते हैं; सुन्दरी के लिए यह नाम उपयुक्त समझा जाता है।
३ पीर पंचाल पर्वत।

रेशम के कीड़े

कलकत्ते के बाज़ारों में अब भी रेशम मिल सकता है
उसी तरह यह विछता सोता
चलता फिरता
ब्याह रचाता
टैक्सी चढ़ता
सिनेमा जाता।

फुटपाथों की सभी युवतियाँ
सखियाँ सभी उदयशंकर की
आँख के आगे आ-आ नाचें
एक से पूछा बिन पहचाने
कहो मरे हैं कितने कीड़े
इस साड़ी की इक सिलवट में
अँगिया के ख़ूनी रेशम में?

अम्बर पर है जापानी बममार

फुटपाथों पर भूखों का चीत्कार
पिल्ले हैं आदम के बेटे
रोटी के टुकड़े को तरसें
मरे-मिटे होंगे लाखों कवि
कर कविता-कामिनि शृंगार
जैसे मरे मिटे ये कीड़े
कात कात रेशम के तार
कौन गिने अब कितने कीड़े
जीवित हैं औ' रहेंगे जीवित
कलकत्ते के बाज़ारों में अब भी रेशम मिल सकता है।

हिन्दुस्तान

ओ हिन्दुस्तान !
हल हैं तेरे लहू-लुहान—
ओ हिन्दुस्तान !

पैरों में हैं टूटे जूते
कपड़े तेरे निरे चीथड़े
पेट कवर सदियों की
ओ हिन्दुस्तान !

मैं कालिदास से कहता—
अब 'मेघदूत' को छोड़ो,
विरह प्रथम या भूख ?
ओ हिन्दुस्तान !

महानदी ने मुझे बताया
दम्पति पूरे नौ औ' बीस

मर गये मिट्टी फाँक-फाँक
ओ हिन्दुस्तान !

नाच अजन्ता-युग के
क्यों नाच रहे, ओ नर्तक ?
भूखा है अपना बंगाल
ओ हिन्दुस्तान !

मैंने देखा आसाम
देखे कंकाल चतुर्दिक्
मरा पड़ा था 'बिहू' नृत्य भी
ओ हिन्दुस्तान !

वृद्धा-सी यह वंशी
लाजहीन, बज-बज कर
मृतप्राय हुई अधरों पर
ओ हिन्दुस्तान !

एशिया

खून से लाल होती रही है ज़मीं
युद्ध रुकते हैं कब ?
युद्ध होते रहे
युद्ध के बाद फिर
अमन के फूल खिलते रहे
हल भी चलते रहे
खेत उगते रहे
बालियाँ भी तो सोने में ढलती रहीं
धड़कनें गीत बन कर उभरती रहीं
एशिया का अमन में रहा है यक़ीं

एशिया का अमन में रहा है यक़ीं
ओ चमकते सितारो !
ओ ऊँचे पहाड़ो !
कठिन पथ की ओ नन्हीं पगडण्डियो !
तुमने देखा तो होगा कहीं बुद्ध के भिक्षुओं को

वे जहाँ भी गये गुनगुनाते रहे—
बुद्धं शरणं गच्छामि
धम्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि—
एशिया ! तेरा दिल क्यों है ग़मगीं

एशिया ! तेरा दिल क्यों है ग़मगीं ?
हर कलाकार के हाथ में
तूलिका अपना जादू दिखाती रही
जैसे आता है फूलों में रंग
जैसे आती शहद में मिठास
जैसे आती अतर में सुवास
जन-कला में उभरती रही नंगी धरती की शान
खेत की नर्म माटी में उगता रहा प्रेम, उगता रहा जैसे धान
उगता रहा सारा सौंदर्य गेहूँ के खेतों में ही
एशिया ! फिर भी तेरी फटी आस्तीं

एशिया ! फिर भी तेरी फटी आस्तीं
तेरे महलों में सोने की मोहरें लुटीं
बादशाह मुस्कराते रहे और पीते रहे जाम पै जाम
कनीज़ों[1] गुलामों की क़िस्मत में लिखी थी साक़ीगरी[2]
तेरे खेतों में तेरे किसान

---

१ बाँदी
२ मदिरा पिलाने का काम

नंगी धरती पै बेकफ़न मरते रहे
भूखे गिद्ध उन पै झट झट झपटते रहे
जैसे उमड़ी हुई लोरियाँ बीच में टूट जायँ
जैसे पर्वत की ऊँचाइयाँ बस सुकड़ती चली जायँ
एशिया ! तेरी होती रही कैसी तौहीं

एशिया ! तेरी होती रही कैसी तौहीं
आज जनमत का सूरज उगा
आज तन्दूर से गरम रोटी लपक कर
भूखे की झोली में आकर गिरी
ओ कलाकार की तूलिका ! अब तो तू भी बदल
अब तो रेखाओं-रंगों की भाषा बदलने लगी
अब न खेतों में उगते रहेंगे गुलाम
अब न सोने-ढली बालियों में पकेंगी कनीज़ें
आज धरती ने लीं फिर से अँगड़ाइयाँ
अब बिछा अपने सपनों का क़ालीन, ओ एशिया—विश्व की नाज़नीं !

अब बिछा अपने सपनों का क़ालीन, ओ एशिया—विश्व की नाज़नीं !
आज ज्वालामुखी युद्ध का फिर से सो जायगा
आज मानव-व्यथा का विजयघोष हो जायगा
सत्य की ही विजय होती आई सदा
वह सुनो सत्य का शंख फिर से बजा
अब न सोने औ' चाँदी की होगी कनीज़ एशिया की कला
अब न ज़ुल्मों की दलदल में धंसती चली जायँगी लोरियाँ
अब न गुमसुम कभी होंगी मानव की किलकारियाँ

अब न अपनों के सीनों पे दागेगा कोई कभी गोलियाँ
एशिया ! फिर न होगी कभी खून से लाल तेरी ज़मीं ।

युग आता है, युग जाता है

चू पड़ते ज्यों चट्टानों पर
थन बकरी के
त्यों ही सहसा ध्वनित हो उठे सभी यन्त्र फिर—
युग आता है, युग जाता है।
सोच रहा हूँ
इन कंकालों-खोपड़ियों पर
रखी जायगी
आज भला किस संस्कृति की बुनियाद ?

नागासाकी
औ' हिरोशिमा
सह न सके अणु बम की मार
बम-वर्षक से कह न अरे कुछ
रुदन न कर मृतसुन्दरता पर।
सोच रहा हूँ

बेकफ़नाये प्यारों को
क्यों बार-बार करता हूँ याद ?

देख दीपमालाएँ ये सब
मीलों तक ये गाजे-बाजे
लाश उठ रही ब्लैकआउट की, उधर न देख
जाने किस-किस की माताएँ
जेबों में पैसे छनकाएँ ।
सोच रहा हूँ
सोना महँगा रक्त-मांस से
अब तक मेरे ओठों पर है
क्यों पहली फ़रियाद ?

मानवता की कोख भला बर्बादी से डर
कब होती है बाँझ ?
देख आज यह नाच
देख युग की यह विकृत मुद्रा ।
सोच रहा हूँ
हुआ यहीं जंजीरों का अवसान,
ज़ंजीरें क्या फिर आयेंगी ?
कभी न फिर से होगी अंधी आदम की औलाद ।

ओ मधुमाखी !
जन्म-जन्म तक कीजो मधु तैयार,
ओ रेशम के कीड़ो !

रेशम कात-कात भरना भंडार
ओ मानव, मत भूल अरे यों
आधे पंथ में।
सोच रहा हूँ
उजड़ी मानवता यह फिर से
कब होगी आबाद।

क्रान्ति

घूमें औ' चल पड़ें कि जैसे रथ के पहिये
क्रान्ति-गान के रंग मचलते
आगे बढ़ते
धन्य धन्य यह गान
धन्य यह अविरल वाणी
धन्य धन्य यह ध्वनि पर ध्वनि उठने की बेला।

घूमें औ' चल पड़ें कि जैसे रथ के पहिये
चलो, सैनिको, कदम मिलाकर
जैसे चलते गायक के स्वर
गान नहीं, यह नक्कारे की चोट
गान नहीं, यह महानाद अलबेला।

घूमें औ' चल पड़ें कि जैसे रथ के पहिये
एकनिष्ट जन-जन का मन
एकनिष्ट जन-जन का तन

अब न चलेगा मनुज उठा कर
युग-युग का यह बोझ अकेला ।

घूमें औ' चल पड़ें कि जैसे रथ के पहिये
ओ भविष्यगामी कवि ! तेरी यह कैसी आकुलता ?
बढ़ा आ रहा
कोटि-कोटि जन-बल का रेला ।

घूमें औ' चल पड़ें कि जैसे रथ के पहिये
चट्टानों की महाविकट
इन दीवारों को तोड़-फोड़ कर
आगे बढ़ती चिर-बन्दी जलधारा—
महामुक्ति की वेला ।

घूमें औ' चल पड़ें कि जैसे रथ के पहिये
भू-गर्भित जन-जन की वाणी
अब न दबेगी
फूट पड़ेगी
वही आज फिर क्रान्ति-गान का छन्द बनेगी
कौन करेगा विस्फोटक अणु-शब्दों की अवहेला ?

मिस्र देश

लो आया भूकम्प—
पिरामिड[1] डोल रहे हैं !
आज बूझ कर तेरी गूढ़ पहेली, अब्बुलहौल[2] !
खड़ा हो गया यह काला इन्सान
आज तो अपना सीना तान।

हे सूरज,
हे मिस्र देश,
हे नील,
पिरामिड हैं प्रतीक चिर-अपमानों के
यहाँ सो रहे घोर नींद में
जनता के अपराधी।

---

१ मिस्र देश के प्राचीन सम्राटों की समाधियाँ।

२ मिस्र देश की पुरातन परम्पराओं की प्रतीक मनुष्य और पशु की संयुक्त भयंकर मूर्ति, जिसका धड़ पशु का और मुख मनुष्य का है।

हे काले इन्सान,
आज किस काम अलफ़लैला के किस्से
काल-कलूटी ममियाँ[1] बहुत देख लीं
देख उषा ने ली अँगड़ाई
आशा की ऋतु आई।

माताओं की जनन-शक्ति है धन्य
धन्य युग का नूतन आह्वान
आज परख लो कनक-कसौटी पर जनमत को
थकी-दबी मजदूरिन भी दर्पण में रूप निनहारे
आज फरफराते झण्डे को देख मनुज ने शपथ उठाई—
सौ-सौ प्राण निछावर करके ले लेंगे आज़ादी।

झूठ, झूठ, यह झूठ
कि चिल्लाते ही लदते ऊँट
अगणित नस्लों के इतिहासकार, हे सहरा[2]!
आज बन गया इक-इक ज़र्रा इक-इक सूरज।

हे नील, न जाने तुमने कितने राह बदल डाले
हाँ, बदले कितने राह!
ऊँची उठकर तेरी लहरें मुक्तकण्ठ से कहतीं आज
रेंग रेंग कर चलो न, ओ इन्सान।

---

१ अतिशय पुरातन रक्षित शव जो केवल मिस्र में ही मिलते हैं।

२ मरुस्थल

किन्तु अभी कुछ समय लगेगा
अभी रहेंगी ये ज़ंजीरें
अभी कहाँ ग़म का अवसान!

कवि और शिरीष

कवि, जेठ मास के बनते हो तुम कटु आलोचक
औ' कहते हो—
लिखा नहीं जा सकता कुछ भी
इस औंधे जल रहे कड़ाहे-से आकाश-तले
सच कहता हूँ
मुझे तनिक विश्वास नहीं हो पाता
तुम ही तो कहते थे उस दिन—
कवि की प्रतिभा ऐसी जैसे ढलता सिक्का
तो फिर जेठ मास को भी तो थोड़ा श्रेय अवश्य मिलेगा
तुम से भला शिरीष
अरे ! यह जेठ मास में खिलता आया
अब के और खिलेगा

कवि, क्या यह तुम नहीं मानते ?
ये शिरीष के वयोवृद्ध सब पेड़
धन्य हैं, जेठ मास में भी खिलते हैं

औ' फूलों से लद जाते हैं
जाने कब से खड़े-खड़े ये तकते आये
काल-पखेरू के पंखों की गतिविधि साँझ-सकारे
इन्हें याद है मेरा बचपन
साक्षी ये मेरे यौवन के
तुमने भी तो देखी होंगी ऐसी वृक्षावलियाँ
तुम्हीं कहो फिर कविता में
कैसे शिरीष का पेड़ नहीं उभरेगा

कवि, ऐसा भी क्या जीवन
जो वासन्ती सुगन्धियों का हो जाये मुहताज
कवि यदि कवि है तो उसका मन
खाली थैले-सा क्यों दीखे
जेठ मास की तपती-बलती दोपहरी में
मेरे जन्मग्राम का यह रेतीला पथ
चिर-ऋणी रहेगा इन शिरीष के वृक्षों का
जो सूरज के अग्निबाण सब अपने सिर पर सहते आये
मस्त-मलंग शिरीष देखकर
वसुधा का हिय फिर हुलसेगा

कवि, जाने कितनी अज्ञात यौवनाओं ने
पहने होंगे कानों में कोमल शिरीष के फूल
जैसे कभी तपोवन में पहने शकुन्तला ने सकुचा कर
डर काहे का, यौवन से कुछ-कुछ पहले ही मन के फूल

खिल हीं उठते; औ' सचमुच मन के भीतर की सुन्दरता ही
बाहर की सुन्दरता का करती आलिंगन
ज्यों गहरे पाताल-कुएँ से जल का डोल खींचकर गोरी
धीरे से देती उंडेल मुसका कर
अनजानी अनुरक्त ओक में
ऐसे ही कविता हो जाय
अरे, इससे जीवन सँभलेगा

कवि, आज बहाना छोड़ो, कुछ तो बोलो
कवि यदि कवि है उसे धूप, वर्षा, आंधी औ' लू में भी तो
अपनी प्रतिभा को कुंठित होने से सदा बचाना होगा
ऐसे ही जैसे खिलते हैं ये शिरीष के फूल
सुन्दरता यदि सुन्दरता है
तो फिर उसकी जड़ें बहुत गहरी होंगी ही
गरम हवा से भी उसमें रस पाने की क्षमता होगी ही
कविता भी यदि कविता है तो कवि को होना होगा मस्त-मलंग
जेठ मास की तपती-चलती दोपहरी में
नहीं रुकेगा कवि का छन्द—
अरे, यह नहीं रुकेगा।

टोडा[1] संस्कृति

इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती—
पर यह संस्कृति नये क्षितिज के सम्मुख क्यों सकुचाती ?
ओ ध्यान-मग्न भय-कातर मानव, इस दर्पण में दिख न सकेगी
आज गगन की आदिम छाया
काश ! कि कोई तुम्हें बता दे लौट नहीं पायेगी फिर से
बीती सदियों की पद-चाप
धुँधली रेखाएं मस्तक की रह न सकेंगी, ओ नादान
टिक न सकेंगे मुर्झाए सूखे पत्तों-से गान
ओ सिमिट-सिमिट कर सूनेपन भी बदल रहे दिन के अवसान !
चुक जाती है आख़िर इकदिन पिछले वैभव की सब थाती ।

इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती—
पर जाने क्यों साँस रुकी-सी, घुटा-घुटा मन—
दीप-शिखा भी बुझती जाती

---

१ दक्षिण भारत के नीलगिरि-प्रदेश में एक आदिवासी जाति ।

शायद फिर से दीप अकिंचन ज्योति-पुंज कहलाये
शायद फिर से रुकी-थमी धारा में गति आ जाये
नीलगिरी के पुत्र, तुम्हारे मन की वाणी
दबी-दबी-सी भिंची-भिंची-सी क्यों है आज ?
टुक देख चाँदनी किसी किन्नरी की बाहों-सी
दूर किसी चन्दन-वन का करती आलिंगन
किसने यह विषपात्र थमाया आज तुम्हारे कर में ?
आत्मघात यह कैसा ? देखो उषा नया जीवन सरसाती।

इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती—
नीलगिरी के सूरज की किरनों से पूछ रहा हूँ
क्यों टोडा-जनसंख्या घटती जाती
क्यों मानवताबोध पुरातन नवयुग के सम्मुख सकुचाये ?
क्यों विभिन्न रंगों पर गहरी धूसरता छा जाये ?
सोच रहीं क्या बैठी-बैठी भैंसें मूक-मूक-सी ?
रहा गर्व युग-युग से टोडा संस्कृति को इन पर ही
वृद्धा दादी अब भी कहती—'इक थी भैंस औ' इक चट्टान
युग-युग जीवे भैंस, फले-फूले टोडा-सन्तान !'
अब भी मुखरित टोडा-लोककथा रँगराती।

इस धरती पर महक दूध की दूर-दूर से आती—
ओ भैंसो, शत-शत अभिनन्दन !
धवल दुग्ध-धारा, अभिवादन !
नीलगिरी की रेखा, तू कितना बल खाती !

महाकाल के पग चलते हैं अपने पथ पर
वीणा के तारों पर चलते जैसे अनजाने स्वर
ओ टोडा-कुलवधू, तुम्हारे हाथ कलामय
रहें काढ़ते नवयुग का अरुणोदय
संस्कृति की ही रंगभूमि कर सकती है सर्वोदय
सूनेपन के हल्के स्वर, लो विदा !
कि टोडा संस्कृति आगे बढ़ कर
आज मृत्यु को धता बताती ।

सरोजिनी नायडू

ओ अवसादमयी वंशी, टुक देख गगन की ओर
अश्रु-सिक्त हो उठा अचानक वसुधा का यह छोर
चल बसी कोकिला भारत की
वह मधुरभाषिणी
रुका-रुका-सा पावन, रुद्ध स्वर कल कंठों में
रुकी-थकी-सी ध्वनि वंशी की
मूर्च्छित पुष्पावली धरा की, रे मन !

मूक दिशाओ, आगे गहन अँधेरा है क्या ?
अखिल एशिया टेर रहा है—
जयतु, जयतु, जय, जय, सरोजिनी !
तेरी कविताओं में मुखरित संस्कृति के खलिहान
तेरी ही गमकों से जागे वसुधा में नव प्राण
'स्वर्ण-देहली', 'काल परवेरू',
'टूटा पंख'—काव्य का हियधन।

ओ जन-पथ, टुक तू भी सुन
ये गान कि जिनमें रमी कूक कोयल की
ये गान कि जिनमें महके चम्पा, गूँजे लोरी
ये गान कि जिनमें हुमक हुमक कर चलें पालकीवाले
लो शुरू हुआ फसलों का गान
लो कुलवधुएं मुस्काईं, लो गूंजी बीन
पर्व-उत्सव-पूजा की वेला—अहो विलक्षण।

नवयुग की साकार चेतना !
सन्धि-काल की स्वर्णिम श्यामल वेला !
कौन करेगा सुना अनसुना
महाकाल के प्रति आवेदन—
"महाकाल, टुक ठहर
कि मैं सब गान नहीं गा पाई
ढलके नहीं कभी आँसू, ओ महाकाल सुन !"

दीप बालती ग्रामवधू, टुक थम जा,
सूनेपन के चिन्तन में उजियाला बोझिल लगता
हाय न विधि ने पंख दिये—मैं यहाँ गोमती वहाँ
कि जिसके तट पर
धू धू जलती होगी चिता किसी की
गिर-गिर पड़ते, गिर-गिर उठते मरण-गान के स्वर
दूर से आते लहराते, रे मन !

ओ चौराहे के बालू, टुक झाँक हृदय में
ग्रहणशील है तेरा कण-कण
पूरम्पूर ग्राम का सब इतिहास तुम्हें रहता है याद
उस कोयल के बोल सदा गूँजेंगे कुलवधुओं के मन में—
सुन लो मेरी बात—असल में बापू का सन्देश,
हाथ-कताई, हाथ-बुनाई कभी न मिटने पाये जग से,
यही शान्ति-सुख का है साधन।

अनजाने चुपचाप गुज़रते चरवाहो, टुक रुक जाओ,
दिन का तो अवसान हो चुका
रात हुई विश्राम करो अब
कल सूरज उगने से पहले फिर हो जाओगे तैयार
और तुम्हारे पग बालू पर फिर उभरेंगे
छवि-पट पर ज्यों कलाकार के रंग निखरते
ओ चरवाहो, गान तुम्हारा, स्वर कोयल के, जन-जन का अभिनन्दन !

गेटे

देश काल की सीमाएं
ऊँची प्राचीरें
कवि के सम्मुख झुक जाती हैं
दो सुदूर देशों का मिलन हुआ है बारम्बार।

माना गेटे जर्मन कवि था
पर शकुन्तला के कवि ने
था मोह लिया हिय-तल गेटे का
यों दो प्रतिभाओं का संगम—वसुधा का शृंगार।

गेटे ने शकुन्तला को देखा औ' पूछा—
क्या तू चाहे एक साथ ही
तरुण वयस का मुकुल और परिणत जीवन का फल?
कालिदास यदि सुन पाता बजते उसके हिय-तार।

गेटे बोला—री शकुन्त!

क्या तू ऐसी वस्तु चाहती
सम्मोहित औ' पुलकित करदे और क्षुधा को तृप्तिदान दे
सचमुच क्या तू यही चाहती, कवि-प्रतिभा साकार ?

गेटे ने पहचान लिया था भारत को शकुन्तला के चहरे पर
जिसे देखकर मुक्तकंठ से बोल उठा था जर्मन कवि यों—
क्या तू चाहे एक शब्द में स्वर्ग-मर्त्य का रूप प्रकट हो ?
तो शकुन्तले, मैं लेता हूँ तेरा नाम—रूप का सार।

जन्मदिन

शत-शत स्वर्णहार पहने, हाँ, अमलतास-सा, प्रेयसि !
हँसमुख, चंचल एक जन्मदिन आया था चुपके से,
उसी जन्मदिन की फिर आज करें पहचान—
कसी हुई वेला में हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
आज कहाँ सपनों की झन-झन !
आज कहाँ यौवन की रुन-झुन !

गत वर्षों की सुधि लेकर फिर आया आज जन्मदिन, प्रेयसि ?
जैसे गाड़ी के पहिये हों चलने पर मजबूर
हाय ! निरन्तर चलते रहने पर भी मंज़िल दूर !
फिर से काँप उठें अधरों पर शत-शत गान—
कसी हुई वेला में हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
लाख मिलें नयनों से नयन !
लाख बँधे, प्रिय, मन से मन !

एक युद्ध विस्मृत न हुआ औ' दूजा युद्ध छिड़ गया, प्रेयसि !

अब तीजे की तैयारी की उड़ती ख़बर निरन्तर आती,
मानवता के घावों से तो अभी अहर्निश पीप निकलती
कौन उपाय भला जिससे हो फिर जन जन का त्राण
कसी हुई वेला में हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
मटमैला सा आज गगन !
उनमन उनमन मानव-मन !

विष में बुझे तीर-से मन की प्यास मिटी कब, प्रेयसि ?
एक बूँद विष सात बूँद मधु को दूषित कर देता
अपनी परछाईं से भी तो मानव आज बिदकता
कहीं शान्त जो हो पाते ये दीपशिखा से कम्पित प्राण
कसी हुई वेला में हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
व्यर्थ हुए शत-शत संभाषण !
व्यर्थ हुए शत शत श्रीवन्दन !

फूलों से मधु-संचय करती युग-युग से मधुमाखी, प्रेयसि !
मधु में ही परिणत हो जाता तिक्त-मधुर फूलों का रस
मधु-संचय होते ही बरबस मधुमाखी होती निर्वासित
कौन करे प्रतिशोध हथेली पर रख जान ?
कसी हुई वेला में हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
कहाँ मिले, प्रिय, न्याय अकिंचन ?
कब होगा फिर सागर-मन्थन ?

निर्वासित मानवता भी इक दिन लौटेगी, प्रेयसि !

पक्ष, मास औ' वर्ष बीत जाते अविराम
सूरज को नित उदय-अस्त होने से काम
आज सत्य के पद-चिह्नों का कौन करे सन्धान ?
कसी हुई वेला में हाय किसे इतना अवकाश, प्रेयसि !
जीवन तो मधुगन्ध-चयन !
जीवन नहीं हृदय-निर्वासन !

एक समान नहीं आते हैं सभी जन्मदिन, प्रेयसि !
मधुमाखी का आया आज जन्मदिन !
नये छन्द में, नये स्वरों में जाग उठा है जन-जन !
धरती के अधरों पर नाचे युग का स्वागत-गान
कसी हुई वेला में फिर से रचा नवल अवकाश, प्रेयसि !
उभरे फिर पहचानों के क्षण !
बाट जोहती वेला के क्षण !

आषाढस्य प्रथम दिवसे

कवि, तुम कालिदास के वंशज
फिर क्यों इतने गुमसुम ?
मेघदूत यदि नहीं
अरे कुछ तो लिख सकते तुम भी—
मेले जाती गोरी का आँचल ज्यों उड़-उड़ जाय,
हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय।
लो पुरवाई चली आज ज्यों चले मचलती गोरी
गरजें मेघ आज ज्यों डम-डम डमरू बाजे
अमराई में कूके कोयल ज्यों नीरवता में वंशी-धुन
मधुर नींद के झोंके गोरी की पलकों को छू-छू जाते।
कवि, जन्मभूमि की वर्षगाँठ यों आ जाती हर बार,
उमड़-घुमड़कर आते बादल ज्यों मेले में भीड़ अपार।

कवि, वर्षा ऋतु का प्रथम दिवस है
जाग उठी है धरती आज अरे ज्यों आँखें मलती गोरी

झन-झन चूड़ी

रुन-झुन पायल

गोल चिबुक पर गोल गोदना माथे पर टिकुली मुस्काय,

हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय।

गोरी के नयनों में काजर-डोरे मेघ-कोर-से

अँगिया पर शत-शत रीझों से काढ़े फूल,

लाल बुन्दकियोंवाली चूनर

चिर-सुहाग का चिह्न अरे वह सेंदुर-रेखा—

कवि, ऐसे में भीजे गोरी का सारा श्रृंगार,

उमड़-घुमड़कर आते बादल ज्यों कवि के उद्गार।

कवि, मेघ घनेरे ज्यों गोरी के एड़ी-छूते केश

नित-नित नूतन मृदु गोरी का वेश

धरती पर ज्यों बरसे मेघ

कला पर बरसे रे जन-प्रतिभा

झूला झूल रही गोरी का गान चित्र बन जाय

हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय।

ओ पथहारा, तेरी मंज़िल

लोक कला है, सुन यह कहती—

मैं हेय नहीं

मैं तुच्छ नहीं

कवि, आज मेघ-गंभीर स्वरों में गाओ फिर नूतन मल्हार

उमड़-घुमड़कर आते बादल ज्यों सपने में बरस हजार।

कवि, आज तुम्हारा मन क्यों डाँवाडोल ?
देख वधिक से बचकर आई वह घायल हिरनी सी
लोक-कला की चितवन आज,
अन्धकारमय सुरंग पार कर लेगा जन-मन
सद्यस्नाता गोरी ज्यों मेघों-से केश सुखाय
हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय
आज कला को मुक्त करो, कवि !
मानवता फिर मुखरित हो, कवि !
जाने कब से शापित औ' निर्वासित लोक-कला रे यक्ष-समान !
यक्षप्रिया को बिसर गया रे अपना साजन !
कवि, आज खोल दे फिर से प्रतिभा-द्वार,
उमड़-घुमड़ कर आते बादल—तरल चाँदनी के मृदु प्यार।

कवि, आज भला यह ध्रुपद ठाट का राग सुनेगा कौन ?
रागिनियाँ सब घबराई-सी
घोर निरंकुश गान मशीनी युग के
अरे रे ! कला-सिंहासन पर चढ़ बैठे
झूमर नाच रही गोरी की वेणी खुल-खुल जाय
हिय पुलकित हो कवि का छन्द अरे यदि ऐसे ही लहराय।
कहाँ की धुन
कहाँ के स्वर
छीः छीः
ये बाजारू गमकें
गली-गली में डोल रहे ये विद्रोही-से गान

कवि, आषाढ़ का प्रथम दिवस है गाओ सरस मल्हार,
उमड़-घुमड़कर आते बादल— रंगों का अभिसार।

बन्दनवार

प्रेयसि !
कल तक रुके-थमे-से चलते थे वसुधा के गान
आज उड़ें वे पंख पसार
नूतन आशाओं ने पहने रंगभरे परिधान
उषाकाल में मचल उठें ज्यों केसर-रोली के उपहार ।

प्रेयसि !
कल तक हम लोहे के कण थे बिखरे-बिखरे
आज हमें युग-चुम्बक लाया पास
दूर हटेंगे भय के कुहरे
रह न सकेगा मानव यों मानव का दास ।

प्रेयसि !
कल तक हम आदिम युग में थे जन्मे और पले,
आज झंझोड़ा अणुबम-युग ने
जो गेहूँ के खेत भले लगते सोने में ढले-ढले

अनायास ही बीत गया क्या उनका युग ?

प्रेयसि !
कल तक मानव-भाग्य सिंका ज्यों रोटी सिंकती
कैसे पड़ सकता गेहूँ का काल ?
नये क्षितिज के सम्मुख रूप सँवारे धरती,
नई नर्तकी की मुद्रा में रंग भरे ज्यों नूतन ताल ।

प्रेयसि !
कल तक मुट्ठी भर माटी से हुआ जन्म मानव का
हम माटी के ऋणी रहेंगे
माटी का तन, माटी का मन
सोने-चाँदी की दानवता से अब हम न डरेंगे ।

प्रेयसि, कल तक अपनी भाषा भी दासी थी
आज करेगी जन-मन पर वह राज
गोरी गोल कलाई पर ज्यों बाँक—किरण आशा की,
नूतन युग के नूतन ही तो होंगे सभी प्रतीक ।

प्रेयसि !
कल तक हो न सका इस धरती पर जनमन-अभिषेक
राजाओं तक सीमित रहा सदा इतिहास
उठ अब बन्दनवार सजा ले
उदय हो रहा एक नया युग लिये नया इतिहास ।

भारतमाता

भारतमाता !
रुनक झुनक रुनक झुनक रुन झुन झुन
लालन की पैजनियाँ बाजें रुन झुन
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन
खींचे डोर पालने की माँ
हिम किरीटिनी चिर-सुहासिनी
छिटक उठी झर-झर पड़ती-सी
पूनम की मृदु तरन चाँदनी
गूँजे लोरी ज्यों चमके रे
मेघ कोर में चपल दामिनी
पकीं बालियाँ नये धान की
चुन ले री निंदया सुकेशिनी
मेरे लालन !
निद्रापथ में नई खिली कलियाँ चुन

रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

भारतमाता !
धरती की सुगन्धियां चंचल
आज हुआ रे मुखरित कण-कण
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन
वीणा आज हो उठी झंकृत—
झुको झुको, ओ नील गगन !
शंख बजे रे—स्वागत्, स्वागत्
स्वागत्, पर्वोत्सव, अभिनन्दन
ढोल बज उठें—स्वागत् स्वागत्
स्वागत्, प्राण-प्रवाह चिरन्तन
शस्य श्यामला के कल्पित स्वर—

भूख उगाते सूख गया तन
मेरे लालन !
नूतन जीवन का वितान बुन,—
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

भारतमाता !
गौरव की ऊँची प्राचीर पुरातन
कब रे मिटेगा मानव का विष-दंशन ?
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन
आगे बढ़ सकती है कैसे
मानवता व्यूहों में बटकर ?
घृणा द्वेष के साँप विषैले
रींग रहे दिन रात निरन्तर
अवचेतन की गहन गुफ़ा में
छिपे अहं ! लो विदा यहाँ से
जनमत के युग में धरती पर
जन-जन का अधिकार हुआ रे
मेरे लालन !
आज नई जागे वंशी-धुन—
रुनुन झुनुन
रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

भारतमाता !
रक्तस्नाता मानवता—संस्कृति की जननी
गंगा न्हाने आये रे किस दिन ?
रुनुन झुनुन

रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

ओ प्रतिभा की सृजन-चेतना
शत् शत स्वागत अभिनन्दन
ओ युग-युग की कला भावना
शत शत स्वागत अभिवादन
अणु बम से ये कोटि-कोटि जन
क्यों भय-आकुल आज ?
संस्कृति की आधार शिलाएं
स्वयं बनेंगी अंग-रक्षिका,
मेरे लालन !
जागे तेरा स्वर्गिक चिर-अमृतगुण
रुनुन झुनुन
रुनुन झनुन
रुन झुन झुन

मणिपुरी लोरी

निद्रापथ पर विजयपताका फहराओ रे माँ बलिहार
सोजा, सोजा, सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
ज्यों कपास की डोंडी में
सोता है पैर पसार
एक कीट नन्हा-सा
श्वेत, मृदुल, सुकुमार
माँ के स्नेह विकास, सोजा
प्यार भरे इतिहास, सोजा
जीवन के उल्लास, सोजा
सौ सौ हाथी रोज़ सिधाएं हम निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होंगे हाथी पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

निद्रापथ की डगर कठिन कब माँ बलिहार

रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन

ओ प्रतिभा की सृजन-चेतना
शत् शत स्वागत अभिनन्दन
ओ युग-युग की कला भावना
शत शत स्वागत अभिवादन
अणु बम से ये कोटि-कोटि जन
क्यों भय-आकुल आज ?
संस्कृति की आधार शिलाएं
स्वयं बनेंगी अंग-रक्षिका,
मेरे लालन !
जागे तेरा स्वर्गिक चिर-अमृतगुण
रुनुन झुनुन
रुनुन झनुन
रुन झुन झुन

मणिपुरी लोरी

निद्रापथ पर विजयपताका फहराओ रे माँ बलिहार
सोजा, सोजा, सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
ज्यों कपास की डोंड़ी में
सोता है पैर पसार
एक कीट नन्हा-सा
श्वेत, मृदुल, सुकुमार
माँ के स्नेह विकास, सोजा
प्यार भरे इतिहास, सोजा
जीवन के उल्लास, सोजा
सौ सौ हाथी रोज़ सिधाएं हम निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होंगे हाथी पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार!

निद्रापथ की डगर कठिन कब माँ बलिहार

सोजा, सोजा, सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
वीणा के मृदु तारों पर ज्यों
सोते स्वर सुकुमार
माँ के हिय में सोती ममता
नूपुर में सोती झंकार
ओ मृदंग-ध्वनिमान, सोजा
ओ घुंघरू के गान, सोजा
वंशीस्वर-सम्मान, सोजा
सौ सौ दीप संजोएंगे रे हम निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होंगे दीपक पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

थके-थके से रथ के पहिये कैसे और चलें रे भाँ बलिहार
सोजा सोजा सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
ज्यों पंछी की नयन-कोर में
सोता नीलाकाश-प्रसार
मृग-उर में सोती स्वर-लहरी
सावन-धन में मेघ-मल्हार
ओ मृदु निर्झर-गान, सोजा
वनवैभव के प्राण, सोजा
पर्वत-हियसन्धान, सोजा
सौ सौ जुगनू नाच उठेंगे रे निद्रापथ के इस प

कल जब तुम जागोगे सोते होंगे सपने पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

रेशम के कीड़े कब तक कातेंगे रेशम माँ बलिहार
सोजा सोजा सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
वृक्ष-नीड़ में सोता है ज्यों
विहगों का नन्हा-सा प्यार
वनश्री में सोती सुन्दरता
ज्योत्सना में स्नेह-फुहार
नींद भरे आलिंगन, सोजा
आशा के आमंत्रण, सोजा
हिय के मृदु आकर्षण सोजा
सौ सौ सपने रोज़ बुनेंगे हम निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होंगे सपने पैर पसार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

निद्रापथ पर बजे बाँसुरी मधुर-मधुर रे माँ बलिहार
सोजा सोजा सोजा रे
सोजा, मणिपुर राजकुमार
ज्यों मयूर-पंखों पर सोती
रंगों की आभा सुकुमार
गो-स्तन में ज्यों सोता अमृत
फूलों में माधुर्य अपार

ओ मानस के दर्शन, सोजा
अभिलाषा के मधुवन, सोजा
ममता के मधु-गुंजन, सोजा
सौ सौ नन्हें शंख बजेंगे रे निद्रापथ के इस पार
कल जब तुम जागोगे सोते होंगे नन्हें शंख कुमार
सोजा, मणिपुर राजकुमार !

बलिदान

एक घूंट
दो घूंट
न जाने कितना विष था
उस प्याले में,
विष की एक घूंट ही
होती है पर्याप्त ।

एक हाथ
दो हाथ
न जाने कितनी ऊँची
थी वह शूली,
शूली आखिर शूली ही थी ।

विष पीने औ' शूली चढ़ने की गाथाएं
चिर-नूतन हैं
और चिरन्तन,

मानवता आभारी है
इन बलिदानों की ।

राष्ट्रपिता हे
ज्योतिमय हे
किसे ज्ञात था तुम चल दोगे
होगा महाप्रयाण
निज शोणित से एक राष्ट्र को दोगे जीवनदान ।

हे मारुत, हे सूरज
हे जल थल आकाश
हे धरती
चन्दन चिता आज है
धक् धक् जलती
आज राष्ट्र की
निधि है पल में बलती ।

भस्मसात यह काया
जाने कहाँ कहाँ पहुँचेगी
हे कोटिबाहु के बाहु,
बने रहना जनता के सम्बल,
युग युग के स्वर्णांचल
हे युगवाणी,
मूक न होना

शत शत बाधाओं के होते
बुझे न बाती।

हे विश्व-वेदना,
तेरी वाणी
तेरे मुक्त हास की रेखा
गहन निशा में
दामिनी-द्युति बन दमके
हे नव स्वतन्त्रता के नव स्वान,
निरन्तर चलते रहना,
ज्योतिर्मय की ज्योति
सदा वसुधा पर चमके।

रू प वा णी
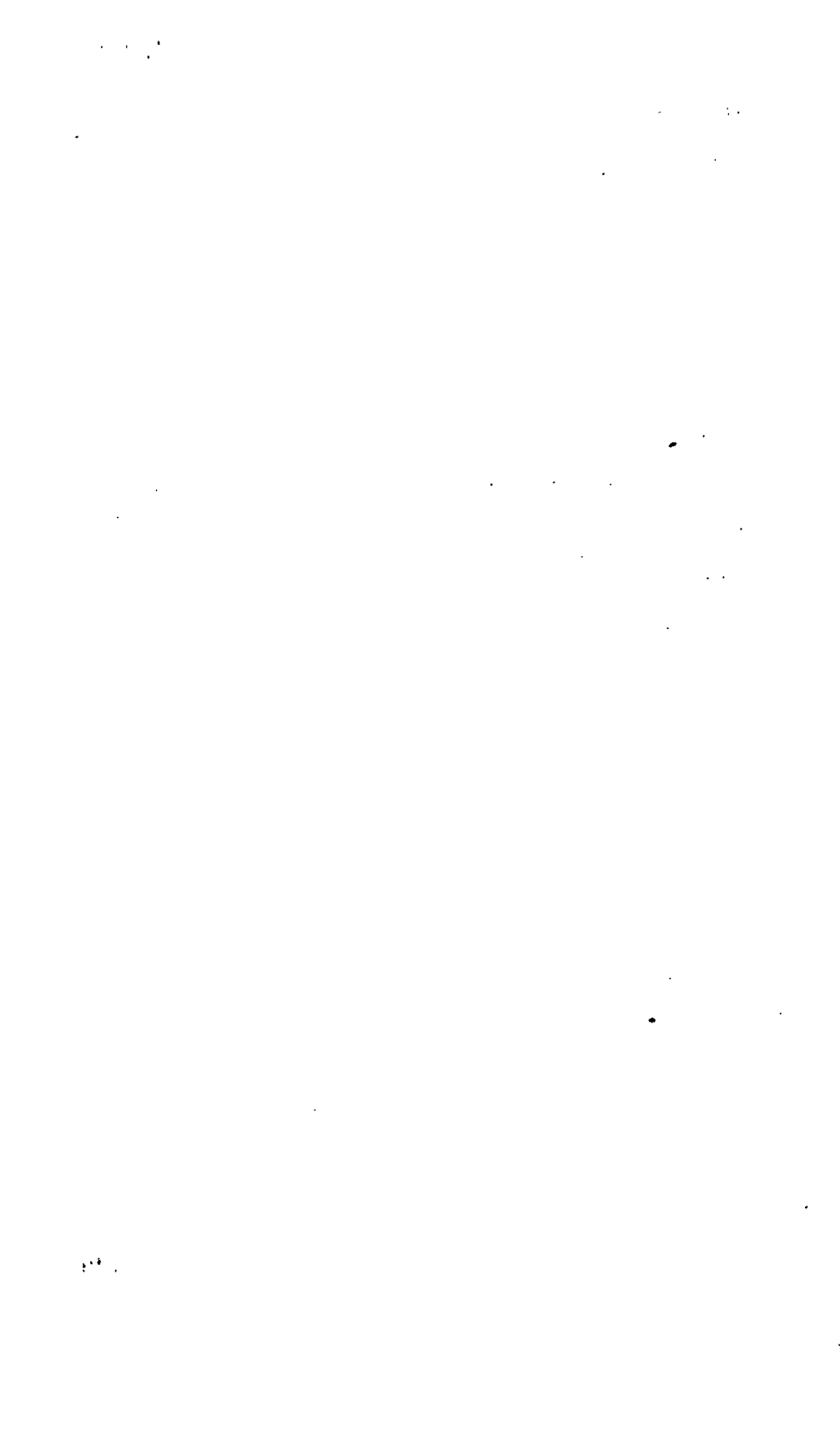
प्रेयसि

मेरी प्रेयसि
हीर नहीं
न मैं हूँ राँझा
फिर भी तो हम बँधे प्यार में
सुख दुख साझा ।

काश प्रणयधारा में हम भी
तैरे होते
दूर-दूर तक
औ' बाँहों के मृदुल पाश में
बँध-बँध जाते हम भी
प्रेयसि !

ओंठ हीर के
सचमुच ही क्या इतने ही थे
सुन्दर, कोमल, पतले

मेरी प्रेयसि के ओंठों से बढ़कर ?
नहीं नहीं, कैसे कर लूँ स्वीकार ?

मैं हूँ पथिक
पैर में चक्कर
देश-देश के लम्बे पथ-सन्देश
नित सुनता है मेरा मन
रहती सदा एक ही धुन ।

मेरी प्रेयसि
पथ-पथ की अभ्यस्त
चल पड़ती है उधर जिधर मैं हो लेता हूँ
न हँस कर, न रो कर
नयनों में प्रिय नयन पिरो कर !

चाहे कभी थकन से चूर
उकता कर बस लम्बे पथ से
कह उठती है
अब मैं और नहीं चलने की
भूल हुई जो व्याह कराया
पछतावे रे मेरा मन !

रे मेरी प्रेयसि की नाक
है कुछ-कुछ बेडौल

झाँक रही हड्डियाँ गले की
साधारण-सा रूप
मुख की रेखाएं भी हैं बस
छिन्नभिन्न-सी
फिर भी मेरा मन उमड़ा पड़ता है
श्यामल सघन कुन्तलों की छाया में
जहाँ झाँकते नयन सलोने उन्मीलित मदमाते।

ताजमहल

मेरे कन्धों पर सिर रख कर दो उदास आँखों से
ताजमहल की सुन्दरता क्या निरखे ?
एक कलाप्रिय हिय की मूर्त्त भावना
इसके सम्मुख नतमस्तक हो, प्रेयसि !

मुमताज़ महल थी सरल मृगी-सी
बिंधी स्वर्ण-बाणों से
उधर मुक्त वन इधर महल कीं प्राचीरें थीं
शाहजहाँ था रूप-अहेरी, प्रेयसि !

नेह चढ़ाया होगा मेरा दिल कहता है
हर मजदूर ने अपनी-अपनी मजदूरिन को
ख़ून पसीना एक किया होगा वर्षों तक
शाहजहाँ कब दे पाया होगा उनकी मज़दूरी, प्रेयसि ?

दुनिया कहती ताजमहल का शाहजहाँ निर्माता

मैं कहता हूँ
ताजमहल है भेंट
पुरुष की नारी के प्रति, प्रेयसि !

कितने मजदूरों का यौवन
ताजमहल के उठते-उठते
बना एक चीत्कार
उधर नेह की भेंट इधर मधु यौवन की बेगार, प्रेयसि !

दबे रह गये होंगे जाने कितने नेह
उभरा तो बस शाहजहाँ का नेह
क्या मेरा भी नेह नहीं है इसमें
मूर्तिमान औ' मुखरित, प्रेयसि ?

मेरे कन्धे पर सिर रख कर दो उदास आँखों से
ताजमहल की सुन्दरता क्या निरखे ?
पत्थर को भी मिल सकता है वाणी का वरदान
संगमरमरी हिय की धड़कन आज हुई क्यों मौन, प्रेयसि !

कूच बिहार

कूच बिहार रहेगा याद
याद रहेगी रजनीगन्धा
अंगड़ाई लेकर उठती-सी
ऐसे में कब सो सकता था मैं भी ?
मान-गर्व की वेला में
बज उठी थी रजनीगन्धा की हिय-वंशी
सचमुच वह रतजगा रहेगा याद !

गोरी के ओठों पर ज्यों पहले चुम्बन का
सरस परस-सा रहे जागता
ऐसी ही रजनीगन्धा थी
कहती थी—यह रात महकते कोमल मृदु स्वप्नों की
स्नेह गान में रुँधा रहे क्यों ?
दर्द कंठ में अटक अरे क्यों आज करे फरियाद ?

गीली सूनी पगडंडी पर

बिछ-बिछ जाती थी सुगंध रजनीगन्धा की
चलती पुरवाई मानो रुक रुक जाती थी
औ' मुसकाती रजनीगन्ध लाजलजी-सी
सोंधी सुगंध में डूबा कुञ्ज विहार रहेगा याद ।

नर्त्तकी

नारी जन्म-जन्म की संगिनी
सहचरि जन्म जन्म की
रूपराशि
गुणराशि
नेह की राशि
किन्तु सुकुमारी
बँध कर नर के मोह पाश में
तू जीती या हारी ?

मुजराघर के लाल फर्श पर
प्राणों में तूफान उठाती
चिर-यौवन का,
चिर-जीवन का,
ओ उर्वशि,
तू भरे-पले कुच-कलशों में
अमृत छलकाती ।

नूपुर-ध्वनि पर
स्वयं रीझती
सौ बल खाती
सकुचाती
मुस्काती
अंगों की लचकन से कवि के
प्राणों में तूफ़ान उठाती ।

जाग उठे नयनों में सपने
जागे जूठे ओंठों पर
बीती नस्लों के चुम्बन कितने
मैं बोला
हे राज नर्त्तकी
तू जी लेगी
मैं जी लूँगा
बजा करें यदि तेरे नूपुर
बजा करे यदि मधुर मन्द ध्वनि में यह तबला
और घनी सदियों की यह वृद्धा सारंगी ।

बुझते दीपक का सा मुखड़ा
घायल कोयल की सी वाणी
चुप न रह सके उसके नूपुर
चुप न रह सका नटखट तबला,
चुप न रह सकी वह ढीले तारों वाली सारंगी

गूंज उठी आवाज पुरानी
बेटा नहीं साँच को आँच
है सब गेहूँ की रोटी का मीठा राग
है सब गेहूँ की रोटी का मीठा नाच

मैं बोला
हे राजनर्तकी
प्रेयसि
सुन्दरि
नृत्यगान में तू जी लेगी
इसी तरह चाँदी के सिक्के
खुली जेब से निकल-निकल कर
हुआ करें यदि यों न्योछावर
नृत्यतृप्त तेरे चरणों पर
इन स्वप्निल मीठे गीतों पर।

कवि-मानस के कलाभवन में
शिव के सम्मुख
नाचीं सौ-सौ देवदासियाँ
मधुर सलोनी देवदासियाँ
रुनुन झुनुन, रुनुन झुनुन
रुन झुन झुन
मैं बोला
हे राजनर्त्तकी
देवदासियाँ हारीं

प्रतिदिन नाच-नाच कर
मौन हुईं
जड़ पत्थर की प्रतिमाएं बनकर
मानों फिर न बहेंगे
उनके स्वर के निर्झर
मानो फिर न जगेंगे सपने
चंचल मुद्राओं पर
मानो फिर न बजेंगे
सोने-चाँदी के मृदु नूपुर।

फिर जब मैंने देखा झुक कर
मुजराघर के लाल फर्श पर
नूपुर की ध्वनि उठे निरन्तर
मादक स्वर में
छन छन छननन छननन छन छन
छन छन छनननन छननन छन छन
बोला तबला तीखे स्वर में
मेरे तालों पर पड़ते हैं
पग नारी के
सारंगी के तार कह रहे
हाय पुरुप को नारी से है क्या-क्या आशा
आशा क्या क्या।

पलकें मुंदीं अचानक मैंने देखा सपना

सपना—जैसा पहले कभी न देखा
माँ की गोद
गोद में मैं था
सिसक-सिसक रोता जाता था
बुझा-बुझा था दो दिन से मन
मैंने सोचा पीना होगा
जीवन का विष सारा
सारा विष जीवन का
जैसे अमृत-मन्थन के दिन
पान किया था सागरतट पर महादेव ने।

देखीं बिकती हुई नारियाँ
सब की सब धुन लगी हुई पीढ़ी की
ये पददलित बेटियाँ
सभी उर्वशी की वे बहनें
मूर्तिमान हो उठी शीघ्र
युग युग की पीड़ा
पीड़ित यह नारीत्व
और इसकी यह प्रतिमा
बनी आज मां मेरी
मेरी जननी यह नारी।

सन्थाल कुलवधू

काली विभावरी-सी थी सन्थाल कुलवधू
वंशी-स्वर में बोली—
प्रिय, ऋतु बदली
सँकरी धमनी में फिर उछली
धार लहू की

री वंशी, अब छेड़ गुदगुदी तान
मेले का दिन आया
मन हुलसाया
दीप्तियुक्त उसकी आँखों में
जागे नूतन प्राण !

माटी की मूरत-सी थी सचमुच सन्थाल कुलवधू
दो सड़कों के संगम पर जाने क्या सोच रही थी
पुरवाई में उसका पीला-सा आँचल लहराया
ज्यों अंडा सेने से पहले नेह-हिलोरें खाकर

मटमैली कबूतरी का जी थर्राया

सचमुच मुग्ध और तन्मय थी
रूप-वंचना-सी सन्थाल कुलवधू
दूर कहीं उसकी वंशी के उत्तर में
बज उठी सलोनी वंशी
यही तुम्हारी जन्मभूमि में होता होगा, ओ संथाल कुलवधू !

खानाबदोश

ये दीवारें,
ये सीमाएं,
इनमें तो मन बन्दी-सा
आकुल हो उठता।
यदि मैं फिर जाना चाहूँ इन दीवारों से दूर
मुझे रोक पायेंगी कब ये नई पुरानी दीवारें ?

कह उठता मन—जीवन तो वहती जलधारा
जल की ईहा गति-वरदान
ऋतु-हचकोला नूतन गान
ईहा की मंजूषा में
ज्यों निहित पड़ा रहता है फ़ीरोजे का टुकड़ा
ऐसे ही क्या बीत जायगा जीवन सारा ?

आँखें कहतीं—पथ आगे है, ओ नादान !
मन कहता है—दीवारो, हट जाओ !

सीपी में ज्यों मोती जन्मे
मन में जन्मे नन्हीं-सी गति-ईहा
कैसे मैं खानाबदोश कर लूँ बन्दी-जीवन स्वीकार ?
गति-ईहा जीवन-अभियान ।

अबाबील

अबाबील का अण्डा
अण्डे के धब्बे
धब्बों का क्या सन्देश ?

अण्डा सेने का पुण्य-दिवस
ओ अबाबील की मातृभावना
हिय-कम्पन का क्या सन्देश ?

नवजात विहग, तुमको प्रणाम
ओ गगन-स्वप्न, तुमको प्रणाम
पंखों का क्या सन्देश ?

गुलमुहर के फूल

गुलमुहर के फूल भी क्या फूल हैं
चार दिन के मेहमान
आखिरी झाँकी भी हो उठती है
कितनी मूल्यवान

काश ! कोई इन्हीं फूलों से
सजा दे आज बन्दनवार
पर न जाने मन कहे क्यों आज बारम्बार—
गुलमुहर के फूल ज्यादा शोख़ हैं, नादान !

सनसनाते तीर-सा आकर लगा
गुलमुहर के हृदय-तल पर व्यंग्य यह तीखा नुकीला
क्या बुरा है रंग हो यदि शोख़ भी ?
रंग आखिर रंग है—हाँ, रंग है वरदान !

गुलमुहर यदि हो उठा नाराज़
और खा ली शपथ उसने—मन की आशाएँ, उमंगें

मन के भीतर ही खिलाऊँगा सदा !
इस सड़क की फिर कहाँ रह जायगी यह शान !

इतनी आज़ादी तो होनी चाहिए हर फूल को
रंग दिल की आग का भड़का सके,
गुलसुहर के फूल भी क्या फूल हैं
चार दिन के मेहमान !

गेहूँ की बालियाँ

ओ सोने के सूरज,
आज पका दो सभी बालियाँ
कह दो इनसे यदि ये नहीं पकेंगी
तो किसान गिन-गिन के देंगे इन्हें गालियाँ

कच्ची दूध-भरी बाली
यदि पकने से रह जाय
तो फिर उसके गालों पर
कैसे उभरें किरणों के चुम्बन ?

सिकुड़ी कोरों से बस रहे झाँकती
आखिर कब तक कोई बाली
लिपट-लिपट कर सोने के सूरज का
कैसे कर सकती आलिंगन ?

यदि दूध रहे वैसे का वैसा
यदि मन में मौज न थोड़ी-सी लहराय

यदि मदन-तरंगें मन में तनिक बजावें नहीं तालियाँ
यदि सचमुच पकने से रह जावें गेहूँ की ये सभी बालियाँ

बचपन बीता आया यौवन
सोने का तन सोने का मन
गेहूँ की ओ मस्त बालियो, होगा ब्याह तुम्हारा भी तो
इक दिन तुम सब डोली में बैठोगी ।

स र ग म

सभी गायिकाएं थम जातीं

सभी गायिकाएं थम जातीं
थम जाते पंखोंवाले घोड़े भी
मैं भी अपने सपनों के सुन्दर पुष्पों को छोड़ रही हूँ
खुल-खुल जाते हैं अख़बार हवा में चौराहों पर—
"उसे मार डाला जब वह आशीर्वाद देने निकला !"

निशि में करुण पुकार सुनी
जैसे पक्षी का चीत्कार हो
आँख खुली औ' देखा एक सुदूर अज्ञात स्थल
क्या यह तुम ही थे जिसने धीरे से सिसकी ली
अन्तिम रक्तधार जब निकल रही थी ?
कहीं दूर हड्डियाँ तुम्हारी ही थीं
जीवन के अवसान-मार्ग पर इधर आ रहीं,
लचकीले बाँसों के सदृश मुखरित दिन का
जब प्रस्थान हो रहा था ?
"इन्सान अभी वहशी हैं, महिला !"

सत्याग्रह के दिनो ! अरे जब घर-घर चरखा चलता था
जन्मभूमि के गान ! सुनहरे रेशम से सज्जित छोटे बाजों पर मुखरित
दार्जिलिंग की चाय सुवासित श्वेत गुलाबों के रस से, हे प्रेयसि !
गलियाँ, गलियाँ, गलियाँ,
क्या तुम जानो किसका खून हो गया सात समुन्दर पार ?
अखिल विश्व के श्याम अछूतो ! यह रोने का अवसर,
पर तुम यह भी नहीं जानते ।
"कवि ठाकुर ! तुम गाते हो ज्यों भोर-समय के पंछी गाते
जिनका पेट भरा हो,
भूखे पंछी भी हैं जिनके मुँह में बोल नहीं है !"
हवा साँझ के अखबारों की दर्द-भरी सुर्खियाँ उड़ाती
बार-बार पढ़ते हैं लोग
पढ़ते हैं वे हिज्जे करते बाल-समान
औ' चल पड़ते,
चल पड़ते हम सभी अरे
हाँ, नज़र न आता जिसे उसी को खटक रहा है काँटा
दृष्टि औ' आत्मा के बीच
पाँच बजे हैं यहाँ, देखती नाम तुम्हारा
आज हज़ारों प्यालों में,
क्षणिक भाप में—
चाय जिसे अब पी न सकेगा कोई ।

सचमुच क्या उसने चाहा था ?
क्यों आया था वह धरती पर ?

"मैं माटी का प्याला हूं जिसका निर्माण हुआ ईश्वर के अपने हाथों
नहीं रहेगी चाह यहाँ तो स्वयं बुला लेगा फिर ईश्वर।"

तुम्हें गिराया ईश्वर ने सहसा—हाँ सहसा !
एक घूँट भर रक्त अभी रहता था भीतर
अभी तुम्हारा हृदय न सूखा था, ओ गौरव-मूर्ति !
ओ सफेद चादर में खिले गुलाब, पुण्य शब्दों में मुखरित।

साँझ-समय की हवा नहीं थकती भारत-ब्राज़ील के बीच—
अहिंसा सबके ऊपर, मेरे भाइयो !
पर सबकी जेबों में हैं ये धुआँ छोड़ते-से पिस्तौल
सचमुच तुम एकाकी थे पिस्तौल-विहीन, जेब-विहीन, असत्य-विहीन
बेहथियार, न बीती कल की कुछ परवाह, न आगामी कल की ही चिंता

"इन्सान अभी वहशी हैं, महिला !"
हवा तुम्हारे जीवन को है छीन रही, औ' मेरे जीवन का सर्वोत्तम भाग
वर्दी बिना, पताका बिना एक मनुज वह गिरती दीवारों के बीच,
भारत की महिलाएँ झुकी हुई हैं आज दीर्घ निश्वासों की गठरी-सी
जल रही तुम्हारी चिता, तुम्हें गंगा ले जायेगी अब दूर
इक मुट्ठी भर राख जिसे जल चूमेगा समीप से
जल से इसे उठा कर सूरज सौंपेगा ईश्वर को।

"इन्सान अभी वहशी हैं, महिला !"
ईश्वर से तुम क्या बोलोगे इन लोगों के बारे में ?

इक छोटी-सी बकरी मिमियाएगी करुण स्वरों में ।
हवा उड़ाती अखबारों की मुख्य सुर्खियाँ,
नकली चेहरे घूम रहे औ' नाच रहे हैं लोग
पर्वोत्सव है यहां और सर्वत्र,
पागलपन औ' कामुकता की आवाज़ें धनुषों को तान रहीं
कर्कश आवाज़ों से मुखरित ये सीमेंट-मंजिलें शत-शत ।
पुण्य पुरुष चुपचाप विदा लेते हैं बस
आशीर्वाद देते अपने हत्यारों को,
अन्तिम वाणी समस्वरता की लौट रही है, आज गगन से
पुष्प झड़ रहे हैं मेरे वृक्षों के, निर्जनता करती आलिंगन
मेघ आ रहे—ये विश्रामहीनता के प्रतीक-से,
मेघों को एकत्रित करती हवा, हाथियों को धकेलती,
उड़ चलो अरे लोगो उस निर्बल पुण्य पुरुष की करो मदद कुछ
तुम्हें चाहता था जो इतना !

मेरी बाँहों के साथ सरकता है सौंदर्य, पराक्रम, आत्म-समर्पण
क्या-क्या विचार थे मेरे और तुम्हारे हिय के बीचोबीच
यों झट तड़पा मेरा रक्त जान कर आज तुम्हारा रक्त गिरा है ।
लिये जा रही हवा आज पुरुषों को धन्धों अपराधों की गलियों में
लिये जा रही उनके सब अचरज, संयम, कौतूहल, हँसी, उपेक्षा
सबको घर की ओर धकेले,
चलती रहे चलें ज्यों लम्बे-से जलूस में घुड़सवार सब
हवा चिता की ज्वालाएं भड़कायेगी, हाँ-हलकी राख उड़ायेगी सब
रह जायेगा अन्धकार औ' शोक अन्त में आंसू भी बह जायेंगे

जिन्हें थामते रहे सदा तुम शान्ति-खाइयों के भीतर।

भगवान कहेगा—"वहशी है इन्सान अभी, बेटा!
हमने किये यत्न बहुतेरे, आओ उन्हें छोड़ दें ढीला
जिससे यह सब अस्तव्यस्त हो, उबल पड़े सागर भी
चले जायँ औ' लौट आयें, फिर जायें औ' फिर आयें
आयें औ' मेरे नीले भवनों से नीचे अपनी भूलें देखें
आवश्यक है लौट चलें हम आदिकाल की ओर
मींच लूं मैं भी आंखें—

इसीलिए तो मैंने आज्ञा दी थी तुम्हें हरा दे हिंसा
अभी तुम्हारी आवश्यकता नहीं रही मानव को
लो अब अन्तिम साँस कि जब तक हम दोबारा आँखें खोलें
जब फिर मानव हमें पुकारे।"

ये ईश्वर के शब्द कि जिनको हवा बखेरे
शत-शत अग्निमुखों में
हड्डियां तुम्हारी राख बनीं, अब हवा बखेरे इनको
शत-शत गुलाब में, महापुरुष हे! [१]

•

---

[१] ब्राज़ील की कवियित्री सेसिलिया मेइरलेस की एक कविता जो उन्हों ने गाँधीजी की हत्या की खबर सुनते ही पुर्तगाली भाषा में लिखी थी। प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर इस कविता के अंगरेज़ी अनुवाद से तैयार किया गया है।

बाट जोहते रहियो

मन से बाट जोहते रहियो मैं लौटूँगा एक बार फिर
साफ़ बताकर धता मृत्यु को हाँ फिर एक बार लौटूँगा
कहने दो जो वे कहते हैं—मुझे पता है कोई तो बोलेगा—
देखो कितना भाग्यवान है, मौत के मुँह से भी बच निकला।
क्या वे कभी मुझे समझेंगे ?—
मन से मेरी बाट जोहते रहे भला कब वे सब ?—
कैसे घोर नरक को कर आया मैं पार
वह सब जानें तुम औ' मैं
—तुम, जो मन से बाट जोहते रहे निरन्तर
लाख थी वर्षा लाख तुषार, दिन आया दिन बीत गया। [1]

---

1 रूसी कवि कौंस्तांतिन सिमोनोफ़ की एक कविता

हिम

उत्तर का वह दृश्य समूचा
घिरा हुआ है हिम की शत-शत 'ली' से
तेज ववंडर में गिरती हिम की हाँ दसों सहस्रों 'ली' से
उस ऊँची प्राचीर के दोनों ओर तनिक देखो तो
एक सुविस्तृत अस्त-व्यस्त-सा दृश्य बच रहा
पीत नदी के ऊपर-नीचे
देख न सकते बहता जल
पर्वत हैं बस नाच-नाच उठते चाँदी के साँप
ये पहाड़ियाँ मैदानों की बस चमकीले हाथी
इच्छा होती है मैं अपनी ऊँचाई की तुलना करूँ गगन से !

निर्मल ऋतु में धरती लगती कितनी सुन्दर
लालमुखी कन्या हो जैसे पहने हुए श्वेत परिधान
सुन्दरता है कैसी पर्वतमालाओं औ' सरिताओं की
अगणित वीर स्पर्धा करते कैसे आकर्षित हो सुन्दरि
शी-हुआँग औ' वू-ती थे बस सभ्य मात्र सम्राट

ताइत्सुंग औ' ताइत्सू थे निरे भावनाहीन
औ' चंगेज़खान था अवगत कैसे बिंधे उकाब तीर से
वे अतीत की थाती हैं—हाँ, आज मिलेंगे लोग भावना से भरपूर![1]

[1] चीन के राष्ट्रपति माओ जे तुंग की एक कविता

खून का गीत

ठौर-ठिकाना नहीं गीत का इस पीड़ा के युग में
भाग्य पुकारे आज खून को
खून—जो दिल के भीतर से हाथों पर छलके
फैले चारों ओर कि जिससे धरती का सौंदर्य बढ़े
औ' निर्जीव पत्थरों से फिर फूटेंगी बालियां अन्न की
खून—अरे जो लौटा लाता सूरज का सब तेज
अन्धकार में बाले नई मशालें
खून—जो लाता उषाकाल जिसको समझेगी जनता
खून—जो लाता आज़ादी की रोटी
क्रोध और ज्वालाओं में जो खून बहा है—
इससे आज मिटायेंगे हम निर्बलता सब—
इसमें आज बहा देंगे सब शर्म-गुलामी
जो हैं सड़े-घुसे उस कौर-समान जिसे ले जाये नदी बहा कर
औ' जब तक वह शुद्धिदायिनी लहर गरजती तूफानों में
तब तक यही खून का गीत कि जिसमें सभी गीत हो जाते मौन ।[1]

---

1 चैकोस्लोवेकिया के कवि हिवेज देस्लाव की एक कविता

स्पेन

तना हुआ औ' निर्जल था पहले का देश स्पेन
प्रति दिन धुँधले स्वर में मुखरित ढोल
दूर दूर तक समतल था—बस निरा
घोंसला बना उकाबों का रे
चाबुक खाती खुली हवा की
निर्जनता-सा देश स्पेन।

कैसे एक-एक आँसू तक
आत्मा की गहराई तक
तेरी कठिन भूमि औ' सूखी रोटी से है मेरा प्यार
तेरी निर्धन जनता मेरे जीवन के एकाकीपन में
वयोवृद्ध ग्रामों का खोया फूल
कालचक्र से निश्चल
औ' तेरी खनिजों की कानें
बाँहें फैलाये हैं पड़ी चाँदनी में युग-युग से
इन्हें निगलता वही देवता।

ये सब तेरे भवन चतुर्दिक्
पशु-सा तेरा एकाकीपन तेरी बोधशक्ति के साथ
घिरा हुआ है नीरवता के
बोधहीन पाषाणों द्वारा
तेरी तेज़ तेज़-सी मदिरा
तेरी हल्की-हल्की मदिरा
तेरी सूखी मीठी ये अंगूरी बेलें ।

हे सूरजमणि, पुण्यभूमि तुम देश-देश में
तुम पर होकर गुज़रे कितने रक्त, धातुएँ कितनी
हे नीलवर्ण, हे विजयभूमि
हे पंखड़ियों-बन्दूकों के श्रमजीवी,
एक तुम्हीं हो एक साथ जीवित-निद्रालु-मुखरित ! [1]

---

[1] अमरीकन कवि पैबलो नेरूदा की एक स्पेनी कविता

तो हम आज चतुर्दिक् से हैं उमड़े

तो हम आज चतुर्दिक् से हैं उमड़े, हुए एकत्रित
अग्निकांड का भय तो नहीं हमारे हिय में
जल का नहीं अभाव यहाँ
यह जल झरने से लाई हैं जो बाँहें
उनकी गिनती करने से क्या लाभ ?
अच्छा हो यदि भाँप सकें यह आग दूर से

तंग अँधेरी झोंपड़ियाँ थीं बिखरी-बिखरी
कुंजों में थे फूल महकते, उन पर बुलबुल चहक रही थी
धरती आज सिमटती
बिजली की गति से आती हैं ख़बरें
जब पड़ोस के किसी देश में भभके ज्वाला
सभी बुलबुलें भूल जायँ मृदु गान
पीले पड़ जायें फूलों के चेहरे ।

दूर-दूर की मंज़िल आई पास

फैल कर झोंपड़ियाँ छाईं धरती पर
यह है मेरा गाल कि जिस पर पड़ी चपत हरलम[1] में
यह है बेटा मेरा
जिस पर थीं यूनान देश में दागी गईं गोलियाँ
याँगसी-तट पर भी है मेरा अपना यही शरीर
चाहे गोरा, पीला, काला
टपकें वही खून के कतरे।

जो भी हो चमड़ी का रंग हमारे लिए एक ही बात
चाहे गोरा, पीला, काला
रंग खून का होगा एक, अरे यदि फिर से गया बहाया
सभी पताकाएं चिर-नूतन शोणित से रँग जायेंगी
ऐसी रक्तवर्ण जैसे पतझड़ के पत्ते

जो भी हो माता का लाल हमारे लिए एक ही बात
हो ना हो उसका विश्वास खुदा पर या उसके बन्दों पर
पर उसकी फ़रियाद में होगी वही वेदना
कहेगा खुलकर—मैं भी तुम-सा एक जले दिलवाला!
जिन्हें ज्ञात अपनी पीड़ा, औरों की पीड़ा,
वे आँसू की इस घाटी में धरती के सुरपुर की बाट जोहते।

जो भी हो बस रंग वेदना का—हाँ, एक ही बात

---

१ न्यूयार्क में एक नीग्रो बस्ती

चाहे मीठा कड़वा तेज़,
स्नेह-भावना सदा एक है
जीवन-पथ भी एक
औ' अपमान-डंक भी एक
अँगड़ाई लेकर जो हर वाणी में काँप उठे।

रंग दूध औ' चीनी का कोई हो आज हमारे लिए एक ही बात
चाहे चावल रोटी औ' सपनों से प्रेम घना हो
यदि है जीवन-ध्येय बाँटना सारा चावल, रोटी, सपने
अपने मिलनेवालों में औ' उनके मिलनेवालों में,
बिना चुराये, बिना छुपाये
मेहनत का फल अपनी ही मुट्ठी में क्यों हो
सपनों की गहराई में हम आज चुरायें जीवन-रस क्यों ?

ओ गीतों की अमर भावना, तू महान्, तू जनवादी
अभिलाषा है यही कि मैं साधारण जनहित
उन्हें सँजोऊं नित-नित की मेहनत से,
जिससे मेरी एक-एक लय,
मेरी कविता,
हो जाये गंभीर उन्हीं के सदृश।
मेरी कविता में प्रतिबिम्बित हो किसान के अन्नपात्र का सब विस्तार
उसका हर आघात बने घन की सी चोट !

हे मनचले गायको, विजय-मार्ग के कवियो,

अरे साथियो, आज उन्हें भी पल भर चैन न लेने दो
जो अपने कठोर गीतों से मृदु गीतों के गले घोंटते
औ' करते हैं भंग हमारी सुन्दर नृत्य-सभाएं
गाओ, आज उड़ाओ तानें, जिससे गीत तुम्हारा
रण-भेरी के तीव्र घोष को तुरत दबा दे।

शत-शत वर्षों के आँचल में आज हमारा
धरती और गगन का नाच
हाथ मिलाये
ध्रुव-छाया में चले जा रहे
धरती के सुरपुर की ओर
किरनें सभी छीन लेंगे हम
जिससे क्षण भर में भावी वसन्त मुसकाये।

आज हमारे लिए बनी है धरती साझे का मैदान
आज समय की सीमाओं पर
डटे रहें हम उसकी रक्षा करते
मौत मौत से मिले और जीवन से जीवन
आओ आज बचावें हम अपने बच्चों के सपने![1]

---

[1] रूमानिया के कवि मारसल बरलाशो की एक कविता

बैगपाइप[1] संगीत

हमें न चाहिए घोड़-हिंडोला, हमें न चाहिए रिक्शा-सैर
एक बन्द मोटरगाड़ी हो, टिकट तमाशे का हो ख़ैर
वे करेप की बनी नीकरें, जूतों पर अजगर की खाल
कमरों में शेरों की खालें, औ' अरना-सिर-सजी दिवाल !

जान सा'ब को मिल गई लाश, छुपा दी झट सोफ़े के नीचे
इन्तज़ार में मुर्दे ने बस आग-फूँकनी मारी
याद-निशानी बेचीं आंखें, खूँ बेचा व्हिसकी कहकर
और हड्डियां रख लीं घर में, डम्बल पेलेगा पचासवीं वर्षगांठ पर

हमें न चाहिए योगी बनना, और न ब्लावस्की[2] की बात
बैंक में हो बस नकद-नरायण, टैक्सी में आँचल का टाट

एनी गई दूध लेने को, उलझ गया झाड़ी में पैर

---

१ एक अंग्रेजी बाजा
२ रूसी महिला मैडम ब्लावस्की जो थियासोफिस्ट थीं

जागी तो बज उठा रेकार्ड—पुराना वियना का संगीत
हमें न चाहिये टेट कुमारी औ' न तुम्हारा शिष्टाचार
हमें न चाहिए डनलप टायर, पंकचर ले शैतान संभाल ।

लार्ड फिल्प ने खाली कर दी हेगमनी औ' कहा कि कब पी
गिनने लगा पैर, फिर बोला—ज्यादा है इक पैर
मेम सा'ब ने जना पाँचवाँ, देखा तो घबराई—
ले जाओ बस इसे परे, दाई, मैं बच्चे जनने से बाज़ आई !

हमें न चाहिए गपशप-टोली, हम क्यों जायें सीलीडी
माँ की मदद चाहिए हमको, बच्चे को बस मिले मिटाई !

बिली मरे ने काट लिया अंगूठा अपना, गिन न सका नुकसान
आयरशायर-चमड़े से बाँधी पट्टी—वाह शान !
सारस पकड़े भाई ने जब सागर में आया तूफान
सागर में फेंकी नौकाएँ—पहुँचे गिरजाघर-मैदान !

हमें न चाहिए हेरिंग बोर्ड, हमें न चाहिए बाईबल
बेगारों का पैकट हो बस, जब बेगारी का हो पल !

हमें न चाहिए सिनिमा हाल, हमें न चाहिए कसरत-घर
हमें न चाहिए ग्राम-झोंपड़ी, खिलते जहां फूल सुन्दर
चाहिए नहीं ग्रांट[1] सरकारी और न नये इलेक्शन

---

१ सहायता

चूतड़ के बल बैठो बरस पचास—टाँग दो हैट, रही वह पैन्शन !

हमें न चाहिए मीठी प्रेयसि, हमें न चाहिए मीठा यार
क़ाम करो हाथों से प्यारे, लाये हवा नफ़ा-नौकार
हवा-माप तो पल-पल गिरता—शुक्रवार हो या इतवार
इस शीशे को तोड़ो भी तो रुके न मौसम की रफ़तार ![1]

---

१ अंग्रेज़ कवि लुई मैकनिस की एक कविता

अबीर गुलाल

फागुनी व्यंग्य

उतरते फागुन के संख्यातीत रूपों की लुभानी बात
चीन्हता हूँ टेर माटी की मैं दिन औ' रात
चाँद-सूरज से है मेरी दूर से पहचान
इनके सम्मुख टिक नहीं सकता अहम् का गान
तुम ! जिसे मैंने लिया था देख भारी भीड़ में
तुम ! कि एकाएक चढ़ बैठे हवा की पीठ पर
खेद ! प्रियवर, खेद
हाय, मेरा उतरते फागुन का खेद

कहो क्या तुम मानते हो आज भी
इन्सान औ' इन्सान में यह भेद ?
यह तुम्हारा अहम्, प्रियवर !
तुम हो वह चट्टान जिसका हुआ हो निर्माण
हीनभावों के पिघलते घोर लावे से
काँच की चूड़ी निरा यह अहम्, प्रियवर !
यह तुम्हारा अहम् है कितना विषैला औ' अहितकर !

उतरते फागुन के थे रमणीक दिन
इसी माटी पर मिले थे हम कि जब था पुण्य-अभिनन्दन
इसी माटी पर खिंची लीकें ये, प्रियवर, टेरतीं दिन रात
टूटने पाये कदापि न विश्वजन का साथ
यही माटी स्नेह से बाहें उठाकर
दे रही आशीष सुखकर।

आज माटी को करेगा मनुज कोटि प्रणाम
और वह माटी है कितनी सुखद, चिर-अभिराम
मनुज का इतिहास लिखते आये ये हँसिये औ' हल
जय मनाते आये माटी की ये सब प्रतिपल
और माटी की ये आँखें मोहिनी-सी डाल
क्या तुम्हारे अहम् का दीपक सकेंगी बाल ?
ये तुम्हारे मन के वातायन कभी खुलते नहीं, प्रियवर !
हाय ! फागुन जा रहा तुमको नहीं कुछ भी ख़बर
कहो कब तक अधर पर ये अहम् के कटु स्वर ?

उतरते फागुन का यह उल्लास
पर तुम्हारा अहम् सचमुच सत्य का उपहास
तुम समझते हो कि केन्द्रित है तुम्हीं में विश्व की रूपाभ
अब जो वातायन खुले इससे भी क्या फिर लाभ ?
कहो क्या कहता तुम्हारा मन—
चुक गया गुलाल जो उड़ा रहे हो धूल प्रतिक्षण ?
आह ! स्वर-सप्तक का तुम न ले सके संबल

अब निकल सकते न इससे—
अहम् की यह घोर दलदल !

आज है अपराजिता का व्याह, प्रियवर,
टेरता तुम को नहीं क्या यह सुअवसर ?
वचन शत-शत दिये थे तुमने अभी उस दिन
आह स्याहीसोख-सा भी ग्रहणशील न यह तुम्हारा मन !
कहो चक्रव्यूह कैसा है यह, प्रियवर ?
किसी भी अपराजिता के हाथ से बस एक प्याली चाय
क्या बुरा जो सहज ही मिल जाय ।

कुल्लू का देवता

मैं कुल्लू का देवता
मैं घोर पुरातन देवता
मेरी वज्रदेह युग-युग से,
वर्षा आँधी तूफानों से
औ' बर्फों से
लेता आया होड़ सदा मैं।

परवाह नहीं यदि झड़ीं उँगलियाँ
पड़ीं झुर्रियाँ माथे पर
परवाह नहीं भग्नावशेष-सी
मेरी वज्रदेह है आज
हिय मेरा अब भी बलवान
मस्तिष्क चेतनामय
नयन जागते निशदिन।

परवाह नहीं यदि हूण-कुशाणों

मुगल-पठानों
चतुर फिरँगियों के हाथों से
दक्षिण, पूर्व और पश्चिम से
मुझे धकेला गया सदा ही
पर है अब तक याद मुझे सब
अपना गौरव
अपनी दृढ़ता
अपना ज्ञान

और मुझे पूरा विश्वास
फिर होगा मेरा विस्तार
फिर छू लूँगा शत-शत जनपद
पूरब पश्चिम
उत्तर दक्षिण
नभ पृथ्वी पाताल त्रिलोक
झुक जायेंगे मेरे सम्मुख
रवि शशि तारे
चार दिशाएं
और सकल ब्रह्माण्ड ।
मैं कुल्लू का देवता
मैं घोर पुरातन देवता ।

रावणलीला

बाल्यकाल में बड़े शौक से
हम देखा करते थे
रावणलीला
अब भी मेरे जन्मग्राम में
होती होगी उसी मज़े से
रावणलीला

याद है रावण घोर युद्ध में
मरता था हर साल
जलता था हर साल
जाने फिर कैसे झट अगले साल
पैदा हो जाता था रावण
रंगमंच पर फिर मरता था रावण

शायद रावण घोर युद्ध में
मरता नहीं कभी

जलता नहीं कभी
रावण यदि स्वयं कहीं मिल जाय
पूछ लूँ चिर-जीवन का भेद
जय रावण, जय रावणलीला !

पुरी

लहरो री लहरो, री रंगीन लहरो
री किरनों की बहनों
अरी 'किलकिली'[1] खेलती मस्त सखियो
री बचपन की चंचल, हठीली हिरनियो
री इठलाती इतराती रंगीन लहरो !

कहो, कुछ तो लहरो
सुनो, कुछ तो लहरो
अँधेरे में बैठे जगन्नाथ का मन
अपने में सीमित महाकाल का मन
नहीं हर सकीं तुम
पाषाण-मन्दिर के भीतर निहित उस पुरी-देव का मन,
लहरो री लहरो
री रंगीन लहरो
पुरी-तट की ओ मचलती मस्त लहरो !

---

१ बालिकाओं का एक खेल जिसमें वे एक दूसरी के हाथ खींचती हुई पैर मिलाकर घूमती हैं।

लाखों ही प्राणी
करोड़ों ही जन
छूते रहे देवता के चरण
झुकते रहे उसके सम्मुख
जगन्नाथ की जय मनाते रहे
जगन्नाथ मुख से न बोले
अरी किलकिली खेलती मस्त लहरो !
पुरी की अरी चुलबुली चुस्त लहरो !

अश्रु बहे व्यर्थ ही, व्यर्थ ही !
वेदना भी ढलकती रही, व्यर्थ ही !
आरती भी न फल दे सकी
युग-युग से वैसे ही मानव है भूखा
युग-युग से वैसे ही मानव है नंगा
लहरो री लहरो
री रंगीन लहरो
पुरी की अरी साँवरी गोपियो !

बेगार

आवश्यक हैं झीने रेशम-तार
पीढ़ियों का वरदान
रेशम के कीड़े बेगारी
बँधे हुक्म में कातें रेशम-तार।

आवश्यक चमकीले रेशम-तार
पीढ़ियों का इतिहास
काल पड़ेगा कब रेशम का ?
रेशम के कीड़े हैं श्रम साकार।

आवश्यक गर्वीले रेशम-तार
पीढ़ियों का युग-गान
ओ कीड़ी, ओ वीर सैनिको, कातो रेशम
खत्म न होगी अब बेगार !

उमर ख़ैयाम

सत्य क्या है न्याय क्या है
ये प्रश्न तो पूछने होंगे, अरे ओ आज के कवि !
आज मटमैली है सचमुच सत्य की तसवीर
फिर उसी फ़ौलाद में है ढल रही अन्याय की ज़ंजीर

आज उपमाएँ तुम्हारी बेसुरी-सी
हाय ये युग-युग के जूठे चुम्बनों-सी
तुम समझते हो कि युग का
थर्मामीटर है तुम्हारे हाथ में

हाय यह मिथ्या अहं का बोल
किसी कसबी के रँगे-से गाल पर
मुसकान का कल्लोल
झुर्रियों की सिकुड़ती चितवन पै बजता ढोल

युग किसी को यों क्षमा करता नहीं

तुम समझते हो कि मित्रों की
भरी महफ़िल में काफी है
बदलते युग की गपशप

एक गाली इधर औ' बस
एक गाली उधर, मेरे यार !
जानता हूँ मैं तुम्हें, तुम रात के हो चोर—
उमर ख़ैयाम, मेरे यार !

काफ़ी हाउस

नये जुते खेतों से आती हुई भभक-सी
मन का भार बनी यह काफ़ी
मन को डुबा रही यह काफ़ी

ढलके-ढलके जूड़े
उभरे-उभरे सीने
फ़र्श चूमते आँचल

पंखे तले तम्बाकू की बू
उड़ते-फिरते धूएँ
उठता-गिरता शोर

इक-इक युवक, युवतियाँ तीन
युवती एक, युवक हैं तीन
उड़तें-उड़ते चुम्बन

'धरती का सीना लाल !'
'भूखा है बंगाल !'
'थोड़ा मेरी ओर सरक आओ—मिस पाल !'

'ब्वाय ! काफ़ी इस ओर !'
'आल्सो कैश्यू नट्स फ़ोर !'[1]
'वी आर नाट लेट, श्योर !'[2]

१ अर्थात् काफ़ी के अतिरिक्त चार प्लेटें काजू की भी लेते आओ
२ हमें देर तो नहीं हुई सचमुच

अनुक्रमणिका

(प्रथम पंक्तियों की तालिका)